मनुष्यके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित

ज्योति शिखा

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणीका त्रैमासिक संकलन

- प्रथम संकलन ● जून, १९६६
- मानार्ह संपादक :
  श्री जटुभाई महेता
- संपादक मंडल :
  श्री दुर्लभजीभाई खेताणी
  श्री गुलाबचंद त. शेठ
  श्री रिषभदासजी रांका
  श्री पूर्णिमाबहन पकवासा
  श्री कान्तिलाल पारेख
- मुद्रक-प्रकाशक
  श्री रमणलाल सी. शाह
  जीवन जागृति केन्द्र
  ५०५, कालबादेवी, बंबई–२
- मूल्य : वार्षिक रु. ५.
  एक प्रति रु. १–२५
- मुद्रणस्थान :
  स्टेटस पीपल प्रेस,
  घोगा स्ट्रीट, बम्बई १

"ज्योति शिखा"

- आचार्य श्री रजनीशकी वाणीने हजारो हृदयों के तार झनझना दिये हैं । जो स्वयं से निराश हो गये थे, वे भी स्वयं के भीतर संगीत की संभावनासे आशान्वित हुये हैं । हजारों निराश आंखें आशा से भर गई हैं । प्रकाश का जब अवतरण होता है तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है ।

- आचार्यश्री की अमृतवाणी संकलित होकर सब तक पहुंच सके, इसी दृष्टि से "ज्योति शिखा" का प्रकाशन हम कर रहे हैं । जिनकी मानसभूमि तैयार है, वे इन विचार बीजों से एक बिल्कुल ही अभिनव जीवन में प्रवेश कर सकेंगे, ऐसी हमारी आशा और कामना है ।

- स्मरण रहे कि अंधकार कितना ही घना क्यों न हो, परमात्माका प्रकाश सदा ही मौजूद रहता है, और जिन्हें प्यास होती है, वे उसे अवश्य ही खोज लेते हैं ।

संपादक

सूर्य की ओर उड़ान

आचार्य श्री रजनीश : पूना में एक प्रवचन

मेरे प्रिय,

अभी अभी आपकी तरफ आने को घर से निकला। सूर्य का किरणजाल चारों ओर फैल गया है और वृक्ष पक्षियों के गीतों से गूंज रहे हैं। मैं सुबह के इस संगीत में तल्लीन था कि अनायास ही मार्ग के किनारे खडे सूर्यमुखी के फूलों पर दृष्टि गई। सूर्य की ओर मुंह किये हुये वे बडे गर्वोन्नत खडे थे। उनकी शान देखने ही जैसी थी! उनके आनन्द को मैंने अनुभव किया और उनकी अभीप्सा को भी पहचाना। उनके प्राणों में सूर्य की ओर उठने के आन्दोलन की धक धक भी मैंने सुनी। मैं उनके साथ एक हो गया और पाया कि वे तो पृथ्वी के आकाश को पाने के स्वप्न हैं। अंधकार को छोडकर वे आलोक की यात्रा पर निकले हैं। मैं उनके साहस का गुणगान करता करता ही यहां उपस्थित हुआ हूं और उनकी सफलता के लिये हजार हजार प्रार्थनायें मेरे हृदय में घनीभूत हो गई हैं।

और अब मैं सोच रहा हूं कि क्या मनुष्य भी ऐसे ही सूर्य को नहीं पाना चाहता है? क्या उसके प्राण भी आलोक के मूल स्रोत से एक होने को नहीं छटपटाते हैं? क्या वह भी एक बीज नहीं है, जो कि पृथ्वी के अंधकार गर्भ को छोड विराट आकाश को पाने के लिये लालायित है?

बीज वृक्ष होना चाहता है। अणु विराट होना चाहता है। विकास ही जीवन है।

और जब बीज वृक्ष नहीं हो पाता है, तो स्वाभाविक ही है कि उसके प्राणों में रुदन हो और उसकी आत्मा आकाश न पाने की पीडा अनुभव करे। क्या मनुष्य का दुख भी ऐसा ही दुख नहीं है? मनुष्य का मूल संताप यही है कि वह सूर्य की ओर अपना मुंह नहीं उठा पाता है और उसकी आत्मा अपने पंखों को खोल अनंत

आकाश के लिये उडान नहीं भर पाती है। यही है उसकी पीडा, चिन्ता और रुग्णता। यही है उसकी अशांति। आकाश की स्वतंत्रता को उपलब्ध न कर पाना ही संसार है, बंधन है।

किन्तु, इसी संताप में सत्य की यात्रा का शुभारम्भ भी छिपा हुआ है। जीवन जैसा है, उससे संतुष्ट हो जाना शुभ नहीं है। जो उससे संतुष्ट हो जाता है, वह विकसित ही नहीं होता। विकास तो है असंतोष में। कली, कली होने से ही संतुष्ट हो तो फिर फूल का जन्म कैसे होगा? गहरे असंतोष और उत्कट अतृप्ति में ही प्राण सजग होते हैं और उनमें प्रसुप्त ऊर्जा जागती है और आत्म सृजन में संलग्न होती है।

इसलियें, स्मरण रहे कि असंतोष की अनुभूति दिव्य अनुभूति है और जीवन को उसके केन्द्र तक ले जाने वाली आधारभूत शक्ति भी वही है। परिधि के जीवन से संतुष्ट हो जाने को ही मैं अधर्म कहता हूं। उसके अतिरिक्त और कोई पाप नहीं है। परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व जो भी जीवन पथ पर मनुष्य को रोकने में सर्वाधिक समर्थ है वह है आलस्य और यही आलस्य संतोष के रुप में प्रगट होता है, पुरुषार्थ तो जन्मजात असंतोष है। और जहां पूर्ण असंतोष है, वहीं पूर्ण पुरुषार्थ है। जीवन के प्रति पूर्ण असंतोष को जो अनुभव करता है, वही अपनी यात्रा को परमात्मा तक ले जाने में समर्थ होता है।

बीज की यात्रा वृक्ष तक है। मनुष्य की यात्रा परमात्मा तक है।

मैं आप में भी इस प्यास को देख रहा हूं। आपकी मौन आंखों में वह सब मेरे समक्ष स्पष्ट हो उठा है जो कि आपमें अंकुरित होना चाहता है। आपकी प्यास ही आपके हृदयों को पारदर्शी बना रही है। और जिस दिन से मैंने स्वयं में देखा है उस दिन से ही सबमें देखने की आँखे भी उपलब्ध हो गई हैं। भीतर स्व और पर में कोई भेद नहीं है। वृत्त की परिधि पर बिन्दु बिन्दु में कितनी ही दूरी हो किन्तु केन्द्र पर तो कोई भी दूरी नहीं रह जाती है। और इससे ही ज्ञान अंततः प्रेम बन आता है और प्रेम ज्ञान बन जाता है।

ज्ञान जहां नहीं है, वहां प्रेम भी नहीं है और जहां प्रेम नहीं है वहीं दुख है। प्रेम का अभाव दुख है। उस अभाव में ही प्राण पीडा से भर जाते हैं, और जीवन अवस्थ हो जाता है। प्रेम स्वास्थ्य है क्योंकि प्रेम स्वयं की उपलब्धि है।

लेकिन वह ज्ञान कहां है जो कि प्रेम बन जाता है?

ज्ञान है वहां जहां कि सूर्य की ओर आँखे हैं। सत्य की ओर आंखों के करते ही जीवन आलोक से भर जाता है। किन्तु अधिक लोग जीवन भर सत्य की ओर

पीठ किये ही खडे रहते हैं। और सूर्य की ओर जिसकी पीठ है, उसकी स्वयं की छाया ही उसके लिये अंधकार बन जाती है।

हम स्वयं ही हैं अपने अंधकार या आलोक। किस दिशा में हमारी आँखें हैं, इस पर ही सब कुछ निर्भर है। हम चाहें तो सूर्यमुखी होने का सौभाग्य पा भी सकते हैं, और चाहें तो खो भी सकते हैं।

मैं अपने ही अनुभव से यह कहता हूं। अंधकार में था तो जहां तक दिखाई देता था अंधकार ही अंधकार दिखाई देता था। उसे मिटाने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हुआ। बहुत उससे लडा लेकिन असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आया। लेकिन असफलता और सतत पराजय से मैं निराश नहीं हुआ, वरन् यही जाना कि शायद मेरी दिशा ही भ्रांत है। और पाया कि दिशा ही गलत थी। अंधकार था क्योंकि मैं ही प्रकाश में विमुख खडा था। वह अंधकार मेरी ही छाया थी। प्रकाश की विमुखता से ही उसका जन्म हुआ था। अपने आप में उसकी कोई सत्ता न थी। और उसे मिटाने के लिये चाहे मैं कुछ भी क्यों न करता, वह सब निष्फल जाता ही। क्योंकि जो नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता है।

असत्तावान से लडने से अधिक अज्ञानपूर्ण और क्या हो सकता है? लेकिन हम सभी छायाओं से लडते हैं और यही कारण है कि हमारा जीवन स्वयं ही एक अंधेरी छाया होकर निसत्व हो जाता है।

जीवन की उपलब्धि सदा ही विधायक की दिशा में है। अभाव से संघर्ष जीवन में नहीं, मृत्यु में ही ले जाता है।

उसे पाना है 'जो है', और उसे छोडना है 'जो नहीं है।'

जैसे ही यह तथ्य मुझे दीखा मैंने असत्य की और अंधकार की चिन्ता छोड दी और आंखें उस ओर उठाईं जो कि सत्य है और आलोक है। और मुडते ही जाना कि समस्त अंधकार मात्र इस बात की सूचना थी कि मेरी पीठ सूर्य की ओर थी और मेरी आंखें सूर्य की ओर नहीं थीं।

आपसे भी पूछना चाहता हूं: क्या आप अंधकार में हैं? क्या आपके चारों ओर भी अमावस की रात्रि घिरी है? यह एक इंगित है— एक सूचना है। आप जिस दिशा में खोज रहे हैं, उस दिशा में सूर्य नहीं है।

और इस सत्य को जानते ही एक क्रांति हो जाती है। क्योंकि तब अंधकार या आलोक हमारी जीवन दृष्टि के प्रतीक मात्र रह जाते हैं। अंधकार को नष्ट नहीं करना है। वह तो जीवन दिशा के परिवर्तन से स्वतः ही विलीन

हो जाता है। और नहीं आलोक को कहीं से लाना ही है। वह तो नित्य ही उपस्थित है। हमें तो मात्र उसकी ओर आंखें उठानी हैं और उसके लिये अपने हृदय के द्वार खोलने हैं।

वह जो कि सदा ही है, हृदय के द्वार बंद होने मात्र से खो जाता है और हृदय के द्वार खुलने से ही पुनः उपलब्ध हो जाता है।

सत्य को कहीं से लाना नहीं, बस स्वयं को ही खोलना है।

सूर्य को कहीं खोजना नहीं, बस अपनी आंखें ही मोड़नी और खोलनी हैं।

जगत् में दो ही भांति के व्यक्ति हैं। सूर्योन्मुख और सूर्य से विमुख। पौधे जैसे सूर्य से विमुख हों तो जीवन को खो देते हैं, ऐसे ही वे व्यक्ति भी जीवन के रस और अर्थ से वंचित हो जाते हैं जो कि सूर्य से विरुद्ध दिशा में यात्रा करते हैं और क्रमशः गहन से गहन अंधकार पथों पर भटक जाते हैं। स्वभावतः ही उनका जीवन दुख, पीडा और आत्मिक दारिद्र्य से भर जाता है। उनके हृदय दीन हीन हो जाते हैं और अंधी कामनायें उन्हें चिर भिखारी बना देती हैं। उनके पास सब कुछ भी हो तो भी उनके पास कुछ भी नहीं होता। वे स्वयं ही अपने पास नहीं रह जाते हैं, सब पाने में वे स्वयं को ही खो देते है और स्वयं को गवां देने से बडा न कोई संकट है, न कोई विपदा है। प्रकाश के विरोध में जीने से आंखें अंधी हो जाती हैं और जडें सड जाती हैं। प्राण पाषाण बन जाते हैं और प्रेम के स्रोत सूख जाते हैं। ऐसी आत्मायें, अंधकार के पक्षियों की भांति आलोक से भयभीत रहने लगती हैं और उनका जीवन एक लम्बा दुख स्वप्न हो जाता है। रात्रि की विषाक्त और मूर्च्छित निद्रा को ही वे जीवन मान लेती हैं, और दिवस का जाग्रत जीवन उन्हें विस्मरण ही हो जाता है। ऐसा जीना नाममात्र को ही जीना है। यह जीना झूठा ही है। वस्तुतः सूर्य से विमुख होकर कोई भी जीवन नहीं है।

धर्म का आमंत्रण सूर्योन्मुख होने का आवाहन है। सूर्य की ओर आंखों को उठाना है। लेकिन सूर्य कहां है? इस पर हम विचार करेंगे और उन कारणों पर भी विचार करेंगे जो कि सत्य के आलोक तक पहुंचने में बाधा हैं और जिनके कारण चित्त मुक्त होकर सूर्य की ओर उडान नहीं भर पाता है।

सूर्य स्वयं के भीतर है। बाहर होना सूर्य के विमुख होना है। बाहर की यात्रा अंधकार की यात्रा है।

ज्ञान का स्रोत स्वयं में है। चैतन्य का केन्द्र स्वयं में है। स्वयं की आत्यंतिक गहराई में ही वह है, जिसे पाने से कि और सब पाने की वासनाओं से मुक्ति हो जाती है।

सत्य को जानने का द्वार स्वयं को उसकी पूर्णता में जान लेना ही है।

किन्तु सत्य के सम्बन्ध में तो बहुत मत हैं, बहुत वाद हैं, बहुत सिद्धांत हैं, बहुत शास्त्र हैं, और इनका जाल ही व्यक्ति को उलझा लेता है और उसके चित्त को ऐसा घेर लेता है कि वह सत्य के साक्षात में असमर्थ ही हो जाता है।

सत्य के संबंध में जो सिद्धांत है वे स्वयं सत्य नहीं हैं।

सत्य को दिये गये जो शब्द हैं, वे स्वयं सत्य नहीं हैं।

और सत्य के संबंध में जो शास्त्र हैं, वे सत्य के नहीं, वरन् सत्य के संबंध में मतों के संग्रह हैं।

सत्य यह है कि सत्य को शब्द से कहा ही नहीं जा सकता। सत्य है जीवंत अनुभूति और शब्द हैं मृत अभिव्यक्तियां; और मृत जीवित को प्रगट करने में समर्थ नहीं है।

इसलिए सत्य की खोज में सबसे पहले समस्त मतों से मुक्त होना आवश्यक है। मत सत्य नहीं, सत्य का आभास है। किसी भी मत को मानना चित्त को पक्ष में बांधना है। और जहां पक्ष है, वहां पक्ष का आग्रह है। जबकि सत्य का आग्रही पक्ष का आग्रही कैसे हो सकता है? पक्षपातग्रस्त चित्त अपने पक्ष को सत्य के भी ऊपर रखता है। सत्य को वह अपने पक्ष के अनुकूल ही चाहता है। और यह बात ही जडतापूर्ण है। सत्य हमारे पक्ष के अनुकूल हो जावे तो वह सत्य ही नहीं होगा! सत्य को हमारे अनुकूल नहीं वरन् हमें ही सत्य के अनुकूल होना पड़ता है। किन्तु मताग्रही की ऐसी तैयारी नहीं होती। इसलिये वह अपनी धारणाओं को ही सत्य सिद्ध करने की चेष्टा में नष्ट हो जाता है। सत्य तो सिद्ध है ही। उसे क्या सिद्ध करना है? जो स्वयं को समस्त मतों, वाद-विवादों और पक्षों से शून्य करता है, वह निष्पक्ष होकर सत्य के आगमन के लिये स्वयं मार्ग दे देता है।

मनुष्यता ने अपनी लम्बी यात्रा में मतों और पक्षों, संप्रदायों और पंथों का बहुत सा कूडा करकट इकठ्ठा कर लिया है। मनुष्य तो पैदा होते हैं और मर जाते हैं, लेकिन पंथ पैदा तो होते हैं लेकिन फिर मरने का नाम नहीं लेते! उनकी लाशें सुरक्षित रख ली जाती है और उनकी पूजा जारी रहती है। इसी भांति हम अतीत से मुक्त नहीं हो पाते हैं। और प्रत्येक पीढ़ी नई पीढी को पुरानी परंपराओं की जंजीरें वंशाधिकार में भेंट कर जाती है! प्रत्येक नवागन्तुक पैदा तो स्वतंत्र होता है लेकिन पैदा होते ही संप्रदायों में परतंत्र हो जाता है। इसके पूर्व कि उसमें स्वयं की विचारणा जागे और विवेक पैदा हो, उसके चित्त

को सत्य के संबंध में किन्हीं धारणाओं से भर दिया जाता है। विवेक जागरण के पूर्व ही ईश्वर और आत्मा और जीवन के संबंध में कुछ विश्वास उसमें संस्कारित कर दिये जाते हैं। यह प्रचार बहुत सूक्ष्म है। इसके ही कारण पृथ्वी पर ईसाई हैं, हिंदु हैं, जैन हैं, बौद्ध हैं, मुसलमान हैं लेकिन मनुष्य नहीं हैं। यह दुर्भाग्य बहुत गहरा है और यह दुर्घटना बहुत संघातक है। इसके कारण ही न तो हम ठीक से मनुष्य होने में समर्थ हो पाते हैं और न ही हमें मनुष्यात्मा में निहित सत्य का साक्षात हो पाता है। मनुष्यात्मा को जानने के पहले कम से कम मनुष्य होना तो अनिवार्य ही है।

सत्य की खोज सांप्रदायिक चित्त को लेकर असंभव है। उसके लिये तो पूर्णतः असाम्प्रदायिक चित्त की भूमिका आवश्यक है। सांप्रदायिक चित्त तो दासता में बंधा होता है। शरीर को जो लौह श्रृंखलायें बांध सकती हैं, वे इतनी सुदृढ नहीं होती जितनी कि विचारों की वे श्रृंखलायें जो कि मन को बांध लेती हैं। मन की गुलामी की असली जकड इस तथ्य में ही निहित होती है कि हमें उस गुलामी का बोध ही नहीं रह जाता है। वह हमारे अवचेतन में ही प्रविष्ट हो जाती है और हम उसके आदी और अभ्यस्त हो जाते हैं। जैसे खून में ही कोई जहर मिला दिया गया हो, ऐसे ही परंपरागत संस्कार हमारे चित्त को कैद कर लेते हैं। लेकिन बोध के अभाव में ही जिस बंधन की शक्ति है, वह बोध के आगमन के साथ ही स्वतः क्षीण होने लगता है। जैसे जैसे हम अपनी मानसिक दासता को पहचानते और परिचित होते हैं, वैसे वैसे ही उसकी पकड हमारे ऊपर ढीली होने लगती है। लेकिन यदि इस दासता को ही हम स्वतंत्रता समझते हों और संप्रदायों को ही सत्य, तब तो उनसे मुक्ति का कोई उपाय ही नहीं रह जाता है। धर्म के नाम पर प्रचलित सभी संप्रदाय, संगठन और चर्च स्वयं के और स्वयं के ही एकमात्र सत्य होने का दावा व्यर्थ ही नहीं करते हैं। इस दावे और प्रचार में ही तो उसके प्राण छिपे हुये हैं। इसके आधार पर ही तो वे जीते हैं और शोषण करते हैं। यह दावा ही मनुष्य के ऊपर उनकी प्रभुता का मूल आधार है। इसलिये ही इस दावे को वे किसी भी मूल्य पर नहीं टूटने देना चाहते है और इसे परिपुष्ट करने के लिये सभी भांति के उपाय करते हैं। इसके ही कारण उन सभी ने अपने अपने धर्मग्रंथ को ईश्वरीय कहा है। उन शास्त्रों की जकड मनुष्य पर ढीली न होने पाये इसके लिये इससे अधिक सुदृढ और कौनसी भिति हो सकती है? प्रभुता और अधिकार की आकांक्षा ने मनुष्य को परतंत्र रखने की बहुत सी तरकीबें ईजाद की हैं। इन तरकीबों और

प्रचार से जो अपने को सर्वांशतः मुक्त नहीं करता, वह सत्य को जानने की आशा भी नहीं कर सकता है।

धर्म को पाने के लिये धर्मों से मुक्त होना होता है।

धर्म तो बहुत हैं लेकिन उन सभी को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। वे दो वर्ग हैं: आस्तिक और नास्तिक। सत्य के संबंध में जहां भी किसी भांति के विश्वास का आग्रह है वहीं संप्रदाय है। सत्य के संबंध में जहां भी किसी भांति की धारणा को मानने का आग्रह है वहीं पंथ है और पांथिक दृष्टि है। जबकि सत्य को मानने का प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न तो उसे जानने का है। सत्य का विश्वास नहीं करना है। विवेक को जगाना है और सत्य को जानना है। विश्वास तो अंधापन है। फिर वह विश्वास चाहे किसी का भी क्यों न हो। अविश्वास भी अंधापन है। आंखें तो मात्र विवेक से ही खुलती हैं।

मैं न तो आस्तिकता में मार्ग देखता हूं, न नास्तिता में। वे दोनों तो एक ही अंधेपन के पेंडुलम की दो स्थितियां हैं, वे दोनों एक दूसरे की प्रतिक्रियायें हैं। उन दोनों में से किसी की भी धारणा को पकडना घातक है। वस्तुतः तो धारणा मात्र को ही पकडना घातक है। किसी भी धारणा को स्वीकार या अस्वीकार करते ही चित्त बंध जाता है, सीमित हो जाता है और अपनी स्वतंत्रता खो देता है।

इसलिये न तो कुछ स्वीकार करना है, और न ही अस्वीकार ही करना है, वरन् स्वीकार और अस्वीकार दोनों को ही छोड देना है। चित्त संयम के इस बिंदु पर ही स्वतंत्रता का आविर्भाव होता है। और स्वतंत्रता सत्य तक ले जाती है।

मनुष्यता सत्य के संबंध में की गई धारणाओं के कारण खंडित हो गई है। लेकिन सत्य सर्व एक कर देता है। धारणायें तोडती हैं। सत्य जोडता है। मनुष्य और मनुष्य के बीच संप्रदायों की दीवारों को अतिरिक्त और कौनसी दीवारें हैं ? और इन दीवारों ने जितना अहित किया है और किस दूसरी चीज ने किया है? लेकिन निश्चय ही आप भी किसी न किसी पंथ, किसी न किसी धर्म, किसी न किसी संप्रदाय में खडे होंगे? आप भी किसी मंदिर, किसी शिवालय या चर्च के अनुयायी होंगे? किसी शास्त्र या आगम पर आपका भी विश्वास होगा? किसी विश्वास के घेरे में आप भी आबद्ध होंगे? और फिर भी आप सत्य को पाना चाहते हैं? क्या इन दोनों तथ्यों में स्पष्ट ही विरोधाभास नहीं है ? क्या किसी संप्रदाय में होना और सत्य की आकांक्षा करना विष का ही अमृत

समझना नहीं है? स्मरण रहे कि इस पृथ्वी पर सब कुछ संभव है लेकिन सांप्रदायिक मन सत्य को पा ले यह संभव नही है।

एक गांव में गया था, कोई वृद्ध वहां मुझसे बोले: "मैं हिंदू हूं" मैंने उनसे पूछा कि यह हिंदू या मुसलमान होना क्या है? क्या ये सब बातें हमें दूसरों के द्वारा ही नहीं सिखा दी जाती है? क्यो काई व्यक्ति हिंदू या मुसलमान पैदा होता है? समाज जो धारणायें देता है, सदा उनमें ही बंधे रहना प्रौढता का लक्षण नहीं है। धर्म का सम्बन्ध सांयोगिक घटनाओ से नहीं है। वह तो उस सनातन के स्वरूप से संबंधित है, जो कि सबमें हैं और जिसकी न कोई जाति है, न कोई देश है और न कोई रंग और लिंग है।

मित्र, जो व्यक्ति स्वयं को किसी घेरे में बांध लेता है, वह उस तक कैसे पहुंचेगा जिसका कि कोई घेरा नहीं है?

और, जो व्यक्ति किसी धारणा को पकड लेता है, वह उसे कैसे जानेगा जिसकी कि कोई भी धारणा संभव नहीं है ?

हमें जो ज्ञात है, उस पर रुक रहने से अज्ञात नहीं जाना जा सकता है।

सागर की अनंत यात्रा पर जिसने जाना चाहा है, उसे किसी किनारे से अपने को बांध रखने का कोई उपाय नहीं है।

क्या मैं पूछ सकता हूं कि किनारे पर भी बने रहना, और सागर में जाना भी, दोनों एक ही साथ कैसे संभव हो सकते है? अज्ञात सागर की खोज के लिये ज्ञात तट तो छोडने ही होंगे। उनका मोह जिसे है, वह अपनी नौका को यात्रा के लिये कभी खोल ही नहीं सकेगा। तट ही उसकी कब्र बनेंगे और सागर की यात्रा केवल स्वप्न ही रह जावेगी। बहुत लोग ऐसे ही स्वप्न देखते देखते ही मर जाते हैं, क्योंकि अज्ञात की यात्रा का साहस जुटाना उन्हें संभव नहीं हो पाता है।

सागर में चलना है तो तट छोडो और सागर में गहरे चलना है तो सतह छोडो। सतह पर लहरें ही लहरें हैं। मोती तो गहरे में हैं।

सत्य पाना है तो पक्ष छोडो, क्योंकि निष्पक्ष हुये बिना कोई भी सत्य के पक्ष में नहीं हो सकता है।

मनुष्य की सत्य की खोज में, उसकी जिज्ञासा की मुक्ति में, सबसे बडी बाधायें वे शब्द और शास्त्र हैं जो कि उसने सीख रखें हैं और जिन्हें सत्य मानने का वह आदी हो गया है। सीखे हुये विचार और विचार धारायें स्वयं के विचार के जन्म में अवरोध बन जाते हैं। उनमें दबकर स्वयं की विचार-

शक्ति धीरे धीरे मृतप्राय ही हो जाती है। उसके उपयोग का अवसर ही नहीं आ पाता। उधार ज्ञान ही जब काम दे देता हो तो स्व ज्ञान की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?

मैं यदि आपसे पूछूं कि ईश्वर है? तो आप जो भी उत्तर देंगे क्या वह सीखा हुआ ही नहीं होगा? और तब क्या वह उत्तर असत्य भी नहीं होगा? जीवन के संबंध में सीखा हुआ उत्तर सत्य कैसे हो सकता है?

जीवन में जो भी सीखने योग्य है, वह किसी से भी सीखा नहीं जा सकता है। उसे तो स्वयं ही जानना होता है। फिर चाहे वह प्रेम हो या कि प्रार्थना हो, सत्य हो या कि सौन्दर्य हो। लेकिन हमने तो ईश्वर को भी सीख रखा है! इससे ज्यादा पागलपन की बात क्या कोई दूसरी भी हो सकती है? किंतु इन सीखे हुये थोथे उत्तरों पर ही हम जीवन को निर्मित करते हैं और तब यदि एक दिन हवा का जरा सा झोंका ही हमारे ज्ञान के सारे भवन को भूमिसात कर देता हो तो क्या कोई आश्चर्य है?

ईश्वर को जो जानना और पाना चाहते हैं, उन्हें दूसरों द्वारा सिखाये गये ईश्वर को भूलना पडता है।

वह सत्य नहीं है जो कि स्वयं मेरे ही हृदय ने जाना और जिया नहीं है। और न ही वह प्रेम प्रेम है जो कि मेरे ही हृदय की पीडा से आविर्भूत न हुआ हो। और न ही वह प्रार्थना प्रार्थना है, जिसमें कि मेरे ही प्राण स्पंदित न हो रहे हों। जब मैं स्वयं ही आमूल परिवर्तित हो जाता हूं, तभी वह द्वार मेरे सामने आता है जो कि परमात्मा के मंदिर का है।

स्वयं की सत्ता के अतिरिक्त सत्य का और कोई मार्ग नहीं है।

इसलिये सीखे हुये ज्ञान को भूलना पडता है, ताकि उसका अनावरण हो सके जो कि स्वयं में ही छिपा है जिसे सीखने को कोई भी जरुरत नहीं है। स्वयं में जो अनसीखा है, वही स्वरुप है। और वही स्वरूप है जो कि बाहर से नहीं लाया गया है और सदा से स्वयं में ही है, स्वयं ही है।

हम जो भी सीख लेते हैं, उसे ही खोजने लगते हैं और ऐसी खोज प्रारंभ से ही भ्रांत हो जाती है। क्योंकि ऐसी खोज अनावरण नहीं, बल्कि आरोपण बन जाती है। सत्य पर हम अपनी सीखी हुई धारणा का आरोपण करने लगते हैं। हम सत्य पर स्वयं को ही थोप देते हैं और तब जो अनुभव होते हैं, वे सत्य के नहीं, हमारी ही धारणाओं के, हमारी ही कल्पनाओं के होते हैं। राम, कृष्ण, क्राइस्ट, बुद्ध या महावीर के अनुभव कठिन नहीं हैं। उन्हें

साकार देख लेना भी कठिन नहीं है। लेकिन वह सब हमारे चित्त की धारणाओं और आत्म सम्मोहन का खेल है। सत्य से उन अनुभूतियों का दूर का भी संबंध न है, न हो सकता है।

सत्य के निकट तो केवल वे ही जा सकते हैं, जिनके चित्त सब भांति की धारणाओं के वस्त्रों को त्यागकर नग्न हो चुके हैं, और सब भांति की आत्म सम्मोहक वृत्तियों को जिन्होंने तिलांजलि दे दी है। चित्त के किसी भी कोने में पडी कोई भी धारणा सत्यानुभव के लिये बाधा बन जाती है। उसका प्रक्षेपण हो सकता है। वह रूप धर सकती है और सत्य का भ्रम पैदा कर सकती है। यह अनुभव सुखद भी हो सकता है, लेकिन सुखद होने से ही कोई अनुभव सत्य नहीं हो जाता। वस्तुतः तो सुख और दुःख की अनुभूतियाँ मन की ही अनुभूतियाँ हैं। सत्य की अनुभूति न तो सुख की अनुभूति है, न दुःख की। वह तो दोनों के ही अतीत है।

हम जिन धारणाओं को स्वीकार कर लेते हैं, वे क्रमशः अचेतन हो चित्त के गहरे और अंधेरे तलों में प्रविष्ट हो जाती हैं। उनके होने का धीरे धीरे हमें स्वयं ही ज्ञान नहीं रह जाता। किसी भी जाति की धारणायें उस जाति के व्यक्तियों के अचेतन की सहज ही निवासनी बन जाती है। इनसे मुक्त होना कठिन है। लेकिन मुक्त हुये बिना अन्य कोई विकल्प भी नहीं। चित्त यदि पूर्व से ही किन्हीं धारणाओं, रूपों, आवृत्तियों और मुर्तियों से भरा है, तो वह सत्य को जानने को खाली ही नहीं है। उसमें अवकाश ही नहीं है कि सत्य प्रवेश पा सके और वह स्वतंत्र भी नहीं है कि अपने स्वप्नों को छोड़ सके। उसमें स्वप्न बनते और बिगडते ही रहेंगे और जिस स्वप्न के वह स्वयं ही पक्ष में हो और जिसे वह स्वयं ही सत्य सिद्ध करना चाहता हो, वह स्वप्न सत्य का अभिनय भी कर सकता है। किसी भी स्वप्न में यदि हम अपनी समग्र शक्ति से सहयोग दें, तो तीव्रता के किन्हीं क्षणों में वह सत्य की भांति प्रतीत हो सकता है। स्वप्न सत्य होने का आनंद दे सकते हैं और बहुत से लोग इस तरह के अभ्यास को ही सत्य की साधना समझ लेते हैं।

मित्र, सत्य की और स्वप्न की साधना में बहुत भेद है। स्वप्न की साधना में श्रद्धा, विश्वास, आरोपण और आत्म सम्मोहन चाहिये और सत्य की साधना में उन सबका त्याग। सब भांति शून्य आंखें ही सत्य को जान सकती हैं। जो आंखे पूर्व से ही किन्हीं चित्रों से भरी हैं, वे अपने ही चित्रों के प्रक्षेपण को जानेंगे, उसको नहीं जो कि है। आंखें तो चाहिये दर्पण जैसी शून्य,

निर्दोष और निष्पक्ष. निराग्रह होना, निर्दोष होना है । शून्य होना स्वच्छ होना है।

मैंने एक छोटी सी कहानी सुनी है:

एक फकीर दिन भर के उपवास और उपासना के बाद रात्रि को सोया ही था कि उसने एक स्वप्न देखा। उसने देखा कि वह स्वर्ग में पहुंच गया है। कोई बडा समारोह वहां मनाया जा रहा है। सारे रास्ते सजे हैं। बहुत दीप जले हैं। हवायें सुवासित हैं और मार्गों पर बहुत चहल पहल है। उसने किसी से इस सबका कारण पूछा तो ज्ञात हुआ कि आज भगवान का जन्म दिन है और जल्दी ही उनकी शोभायात्रा निकलनेवाली है। वह भगवान के दर्शन की कल्पना से ही आनंदित हो उठा और राजपथ के किनारे इकट्ठी होती भीड में बडी प्रतीक्षा से खडा हो गया। फिर शोभायात्रा शुरू हुई। लाखों लोग हैं। बीच में रथ पर एक अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति बैठा हुआ है। उसने सोचा शायद यही भगवान हैं और लोगों से पूछा, किन्तु ज्ञात हुआ कि ये हैं जीसस क्राइस्ट और साथ में उनके अनुयायी हैं। उनके निकल जाने के बाद वैसा ही दूसरा रथ भी आया। वे थे हजरत मुहम्मद। उनके साथ भी लाखों लोग हैं। और फिर राम का रथ था और कृष्ण का रथ था । और बुद्ध, महावीर और जरथुस्थ के रथ थे और बहुत से रथ थे और बहुत से लोग थे। वह देखते देखते थक गया लेकिन भगवान का कोई भी पता नहीं था। फिर तो मार्ग भी निर्जन होने लगे। भीड़ छटने लगी । शायद शोभा यात्रा समाप्त हो गई थी ? तभी एक बूढ़े से घोडे पर एक वृद्ध व्यक्ति बैठा हुआ आया। उसके साथ न तो मशालें थीं, न ही कोई व्यक्ति था। अंत में इस दयनीय वृद्ध को देख उसे हंसी आने लगी। उसने किसी से पूछा: 'ये महानुभाव कौन हैं?' उत्तर मिला: "ये स्वयं परमात्मा हैं।" इस सत्य के आघात से उसकी नींद टूट गई और उसने स्वयं को कांपते हुये पाया। दिन भर जो प्रार्थनायें उसने की थीं, फिर उन्हें वह नहीं कर सका। भगवान के नाम से जो धारणायें उसने बना रखी थीं, वे खंडित हो गई। भगवान के साथ होने के लिये और सबका साथ छोड देना आवश्यक है । जो किसी और के साथ है, वह इस कारण ही भगवान के साथ नहीं रह जाता है। उस रात्रि उसकी साधारण नींद ही नहीं टूटी वरंन् वह नींद भी टूट गई जो धर्म के नामों पर प्रचलित अफ़ीम को लेने से आ जाती है।

किंतु कितने कम लोग हैं जो कि अपनी नींद के नशे को तोडने को राजी होंगे ?

उस फकीर ने जो स्वप्न देखा था क्या वही आपको सारी पृथ्वी पर वस्तुतः दिखाई नहीं पडता है? लोग क्राइस्ट के साथ हैं, कृष्ण के साथ हैं, बुद्ध के साथ हैं, राम के साथ हैं लेकिन परमात्मा के साथ कौन हैं? वस्तुतः परमात्मा के साथ जिसे होना है उसे अपने परमात्मा के बीच में किसी भी मध्यस्थ को लेने की कोई भी जरूरत नहीं है। मध्यस्थ की धारणा हमारी कल्पनाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। फिर वह कल्पना ही बाधा बन जाती है।

यह स्मरण रहे कि जो परमात्मा के साथ है, वह राम, कृष्ण और क्राइस्ट के साथ तो है ही, लेकिन जो क्राइस्ट के साथ है या कृष्ण के साथ है वह परमात्मा के साथ नहीं है। क्योंकि क्राइस्ट के साथ जो है, वह कृष्ण के विरोध में है, और राम के साथ जो है वह मुहम्मद के पक्ष में नहीं। किन्तु जो परमात्मा के साथ होता है, वह एक ही साथ सबके साथ हो जाता है, क्योंकि परमात्मा में किसी का कोई भी विरोध नहीं है। वैसा व्यक्ति किसी भी धर्म में नहीं होता है, क्योंकि वह धर्म में होता है।

मनुष्य जिस क्षण भी अपने सब आग्रह छोड देता है, उसी क्षण उस निराग्रह भावदशा में ही सत्य के सब पर्दे गिर जाते हैं। वस्तुतः वे पर्दे सत्य पर नहीं, वरन् हमारे चित्त पर ही पडे होते हैं।

सत्य एक है और एक ही हो सकता है। किन्तु उसकी धारणायें अनेक हैं। एक की ओर चलने को अनेक का क्षेत्र छोड देना आवश्यक है।

एक पूर्णिमा की रात्रि मैं सागर तट पर था। सागर की लहरों में चंद्रमा के अनेक रुप प्रतिबिंबित हो रहे थे। चंद्रमा तो एक था लेकिन सागर की लहरें उसे बहुत रूपों में प्रतिफलित करती थीं। जो मित्र साथ थे, उनसे मैंने कहा था: "ऐसा ही मनुष्य का अशांत मन है। सत्य को अशांति के कारण वह बहुत रूपों में धारण करता है। लेकिन जो एक है, उसे जानने को स्वयं एक और शांत होकर प्रतीक्षा नहीं करता।" और यह भी मैंने उनसे कहा था: "सागर की लहरों पर जो प्रतिफलन बन रहे हैं, वे सत्य नहीं हैं। उन्हें छोडकर उस ओर देखना आवश्यक है, जिसके कि वे प्रतिफलन है।"

लेकिन दुर्भाग्य से हम तो प्रतिफलनों से ही तृप्त हो जाते हैं। धर्म की जगह हम हिंदू, ईसाई या जैन होने से ही तृप्त हो जाते हैं। क्या यह उचित नहीं है कि जो धर्म में गति करना चाहे, उसे इन थोथी और सतही तृप्तियों से ऊपर उठना होगा? धार्मिक होने के लिये हिंदू, मुसलमान, सिख या पारसी होना छोडना चाहिये। ये बंधन मिट ही जाने चाहिये। धर्म के लिये पंथों का

मोह त्याग मूल्य की भांति चुकाना पडता है। संप्रदायों से जो जितना दूर होता जाता है, वह धर्म के उतने ही निकट आ जाता है। संप्रदायों पर जिसका प्रेम जितना कम हो जाता है, वह धर्म का उतना ही प्यारा बन जाता है।

यह भी सोचना आवश्यक है कि संप्रदायों और संगठनों से हमारा इतना राग क्यों है? व्यक्ति अकेले होने में भय खाता है। भीड के साथ होने से उसे यह भय नहीं सताता और सुरक्षा अनुभव होती है। बहुत गहरे में यही भय धार्मिक संगठनों से हमें बांधे रखता है। संप्रदाय मनुष्य की समूह में होने की आकांक्षा के शोषण हैं। मनुष्य की यह कमजोरी ही उनकी शक्ति है। इस कमजोरी का सहारा ले, वे किन्हीं भी सिद्धान्तों और शास्त्रों का प्रचार कर सकते हैं और लोगों को उन्हें मानने को राजी कर सकते हैं। उनके पीछे जितनी बडी भीड हो, जितनी बडी संख्या हो, उनके द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित सत्य भी उतने ही ज्यादा सत्य मालूम पडने लगते हैं। यही कारण है कि सभी संप्रदाय संख्या के बढाने के लिये और उनकी संख्या कम न हो जावे इसके लिये सदा ही चेष्टारत होते हैं। इस प्रतिस्पर्धा में हिंसा, घृणा और हत्यायें सभी पाप भी पुण्य हो जाते हैं। युद्ध धर्मयुद्ध हो जाता है और निर्दोष व्यक्तियों के रक्त की भी झूठे देवताओं के लिये आहुति दी जा सकती है। धर्मो का इतिहास इन अत्याचारों और अनाचारों की कहानी का ही इतिहास है।

धर्मों की भित्ति भय पर है। जबकि धर्म की आत्मा है: अभय। अभय का अर्थ है अकेले होने का साहस। वह वन में जाने का साहस नहीं, वरन् स्वयं के भीतर भय के कारण स्वीकृत समस्त धारणाओं को छोड देने का साहस है। अपने भय के कारण हम स्वयं ही उन्हें पकडे हुये हैं। कोई और मूलतः जिम्मेवार नहीं है। भय है और उसे सुरक्षा पानी है, तो किसी न किसी की शरण जाना ही होगा। शरणागत होनेकी प्रकृति भय से पलायन ही है। उससे भय तो नष्ट नहीं होता, बस व्यक्ति परनिर्भर हो जाता है। भय से परनिर्भरता आती है, परनिर्भरता से और भय आता है, और भय से और परनिर्भरता आती है, और इस भांति हमारा चित्त एक ऐसे अंतहीन वृत्त में पड जाता है, जिसके बाहर जाने का फिर कोई द्वारा ही नहीं मिलता हैं। द्वार तो हैं लेकिन वह भय की अनुभूति में ही हैं। उससे पलायन के बाद फिर कोई द्वार नहीं हैं। भय हैं तो उसे एक तथ्य की भांति स्वीकारे और उससे भागें नहीं। भागने पर तो फिर परमात्मा भी उससे नहीं बचा सकता हैं। रुकें और भय के उस तथ्य में झांकें। झांकने पर ज्ञात होता हैं कि हम छाया से डरे हुये थे। स्वयं के भीतर अकेले

होने से अधिक आनंद की कोई अवस्था नहीं हैं। स्वयं के अकेले पन को जानना और जीना धर्म का पथ हैं। धर्म तो स्वयं का स्वयं से स्वयं तक अत्यंत एकाकी उडान हैं। उसका समूह से, संगठन से क्या सम्बन्ध? धर्म तो आत्यंतिक रूप से वैयक्तिक और निजी क्रांति हैं। क्या आपको स्वयं ही यह दिखाई नहीं पडता हैं ? देखें, आंखें खोलें और देखें। संप्रदायों के धुवें को हटायें तो धर्म की निर्धूम ज्योति शिखा अवश्य ही दिखाई पडती हैं।

समाज और घर को छोडने वाले सन्यासी तो हैं, लेकिन वास्तविक संन्यास तो उन संस्कारों को छोडने से उपलब्ध होता है जो कि घर और समाज, परंपरायें और जातियें हमें विरासत में दे देती हैं। चित्त के उन समस्त घेरों को तोडना आवश्यक है जो कि दूसरों के द्वारा हमारे भीतर निर्मित किये गये हैं। सत्य की दिशा में यही पहला चरण है। उस ज्ञान को व्यर्थ जाने जो कि सिखाया गया है। आस्तिकता सिखाई गई हो तो आस्तिकता व्यर्थ है और नास्तिकता सिखाई गई हो तो नास्तिकता व्यर्थ है। आस्तिकता तो हजारों वर्षों से सिखाई जाती रही है। राज्य और धर्म उसका प्रचार करते हैं, लेकिन इधर कुछ वर्षों से एक देश नास्तिकता भी सिखा रहा है। कुछ वर्षों के प्रचारसे उसने करोडों लोगों को ईश्वर, धर्म, आत्मा, और पुनर्जन्म के विरोध में सहमत कर लिया है। लोग राजी हो गये हैं कि धर्म अफीम का नशा है और ईश्वर का सारा विचार ही अज्ञानपूर्ण है और वे सारे लोग अज्ञानी थे, जिन्होंने देह के अतिरिक्त और किन्हीं सत्यों के अनुभव की बात की है! ये वे ही लोग हैं जो कि ईश्वर को मानते थे और ईश्वर के पुत्र को मानते थे! वह मान्यता भी उन्हें दिया गया संस्कार थी। और जैसे वे पुराने प्रचार को मानते थे, वैसे ही उन्होंने नया प्रचार भी मान लिया है। मानने की आदत ही असल में घातक है। मस्तिष्क का वैसा ढांचा कुछ भी मानने को राजी हो सकता है, क्योंकि अंधविश्वास ही वैसे ढांचे का आधार है, और अंधापन अज्ञान का गढ है। धार्मिक चेतना स्वीकार करनेवाली चेतना नहीं होती है। विद्रोह तो उसका प्राण ही है। मैं विद्रोह सिखाता हूं क्योंकि मैं मनुष्यात्मा में धर्म का जन्म देखना चाहता हूं।

विद्रोह का क्या अर्थ है ? विद्रोह विरोध नहीं है। विरोध तो प्रतिक्रिया जन्य होता है। और प्रतिवाद में वाद छिपा हो रहता है। विद्रोह तो एक प्रकार का जागरण है। विद्रोह तो एक ऐसे सजीव बोध में निहित होता है, जहां मन स्वयं जानने को जागरुक रहता है, और किसी भांति की मान्यता को

या मान्यता के विरोध को अपने भीतर इकट्ठा नहीं होने देता । विद्रोह अन्ध-श्रद्धा से भिन्न विवेक की दृष्टि है । विद्रोह विवेक ही है ।

मैं निवेदन करुंगा कि अपने मनों में खोजें और जहां भी प्रचारित और संस्कारित विश्वास मिले, उन्हें जडमूल से उखाडकर फेंक दें । इस भांति ही मन की भूमि तैयार होती है और बाद में उसमें ज्ञान के बीज बोये जा सकते हैं और सत्य की फसल काटी जा सकती है । बाहर से आये विश्वास स्वयं तो थोथे और निर्जीव होते ही हैं, लेकिन उनके घासपात के कारण चित्त अपनी उत्पादकता भी खोने लगता है । थोथे और अंधे विश्वासों के कारण ही बहुत से सर्जनशील मन बिल्कुल ही निरुत्पादक पडे रह जाते हैं । उनके कारण ज्ञान का भ्रम पैदा होता है और तब स्वभावतः ही ज्ञान की खोज बंद हो जाती है । उनके कारण धार्मिक होने का आभास होने लगता है, और तब स्वभावतः ही वास्तविक धर्म को जानने से वंचित रह जाना पडता है । क्या इस अति स्पष्ट सत्य के लिये भी मुझे प्रमाण देने होंगे ? कितने लोग मंदिर जाते हैं, कितने लोग परमात्मा पर श्रद्धा रखते हैं, कितने साधु हैं, कितने संन्यासी हैं लेकिन क्या उनमें से किसी के भी जीवन में धर्म की किरण दिखाई देती है ? विश्वास पर आधारित धर्म जीवित नहीं हो सकता है, विश्वास नपुसंक हैं, उससे न तो कोई क्रांति होती है, और न कोई परिवर्तन होता है । हां, धोखा अवश्य ही पैदा होता है और उस धोखे में कितने ही जीवन नष्ट हो जाते हैं ।

जीवन्त धर्म विश्वास से नहीं, विवेक से जन्मता है । वही आपके प्राणों की ऊर्जा बन सकता है । उसकी अग्नि में ही आप नये होते हैं और आपका नया जन्म होता है । धर्म निश्चित ही व्यक्ति को द्विज बनाता है, उसे दूसरा जन्म देता है लेकिन वह धर्म दूसरों से नहीं मिलता है । उसे तो स्वयं ही खोजना पडता है । दूसरों से दिया हुआ धर्म केवल बौद्धिक आस्था ही बनकर रह जाता है । वह किसी भी भांति आपकी समग्र आत्मा नहीं बन सकता है । और जो आपकी समग्र आत्मा नहीं है, वह आनन्द भी नहीं है ।

जिज्ञासा को स्वतंत्र करो । अपनी जिज्ञासा को मुक्त करो । किससे स्वतंत्र ? किससे मुक्त ? समाज से, संस्कार से, संप्रदाय से, सत्य के सिद्धांतों और शास्त्रों से । संस्कारों में जो आबद्ध है, उसके पैर तो भूमि में गडे हैं । वह आकाश में कैसे उड सकता है ?

समाज को छोडकर भागने को मैं नहीं कह रहा हूं । उस भांति के पागल-पन के लिये मेरी दृष्टि में कोई भी स्थान नहीं । संन्यासियों से जब भी मैं

मिलता हूं तो उनसे यही कहता हूं कि समाज को छोडकर भाग जाने से कुछ भी नहीं होता है। क्योंकि समाज के दिये संस्कार यदि आपके चित्त में बैठे हैं तो आप भला समाज के बाहर चले आने के भ्रम में हों, लेकिन समाज अभी आपके भीतर ही बैठा हुआ है। समाज बाहर नहीं, वह तो आपके भीतर है। समाज तो संस्कारों और विश्वासों में है। उन्हें छोडना ही असली तप और त्याग है। परिवार और परिवेश को छोडकर भाग जाना कठिन नहीं है, कठिन है उस चित्त को छोडना जो कि समाज ने दिया है। उसे छोडने में बहुत कठिनाई होती है, क्योंकि एक अर्थ में वह स्वयं को ही तोडना है। संस्कारों को हटाना अपने ही चित्त भवन की ईटों को हटाना है। बहुत साहस और श्रम की जरुरत है। परिचित चित्त में सुरक्षा है। वह जाना माना है। फिर वैसे ही चित्त के और लोग भी हैं। उन सबके कारण उसका वैसा होना सत्य भी प्रतीत होता है। संख्या, मूर्खतापूर्ण से मूर्खतापूर्ण बात पर भी विश्वास दिला देती है। ऐसी ही हमारी विचारसरिणी होती है कि जिस बात को इतने लोग मानते हैं, वह अवश्य ही ठीक होनी चाहिये। इसी कारण से यदि समूह और भीड साथ हो तो व्यक्तियों से ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं जो कि अकेले में वे कभी भी करने को राजी न होते। अकेले व्यक्ति को विचार पैदा होता है। भीड में वह भीड का ही हिस्सा हो जाता है और उसकी कोई निजी जिम्मेदारी नहीं रह जाती। भीडों ने जैसे अपराध किये हैं, वैसे अकेले व्यक्ति ने कभी नहीं किये। और यह भी स्मरण रहे कि जीवन में अनुभूति की, फिर चाहे वह सत्य की हो, सौन्दर्य की हो या शिवत्व की हो, जो भी श्रेष्ठतम ऊंचाईयां हैं, वे अकेले व्यक्तियों ने ही स्पर्श की हैं। भीडों के ऊपर मनुष्य को ऊपर उठाने का दोष कभी भी नहीं मढा जा सकता है। समाज द्वारा प्रदत्त चित्त इसलिये भी सुरक्षित मालुम होता है क्योंकि परिचित है। अपरिचित में प्रवेश करने में परिचित को छोडने का भय मालुम होता है। यह भय ही ज्ञात के ऊपर नहीं उठने देता जबकि सत्य अज्ञात है और परमात्मा अज्ञात है। ज्ञात को छोड़ना ही होगा यदि अज्ञात को पाना है। इसलिये ही साहस को मैं सबसे बडा धार्मिक गुण मानता हूं।

साहस को जगाओ और ज्ञात की लक्ष्मण रेखा को लांघो। भूलें भी हो सकती हैं लेकिन विवेक जागृत हो तो भूलों से बडी शिक्षा देने वाला और कौनसा गुरु है? फिर ज्ञात पर रुके रहने से बडी और कोई भूल नहीं है, और उससे कोई शिक्षा भी नहीं मिलती है, सिवाय इसके कि उस पर रुके

रहने की आदत प्रगाढ होती है और अज्ञात में जाने का साहस क्रमशः क्षीण होता जाता है और अलंघ्य पर्वतों के बुलावे और चुनौती के प्रति कान बहरे होते जाते हैं। अज्ञात से भय, बूढे होने का लक्षण है। युवा मन तो सदा ही अज्ञात की चुनौती स्वीकार करने को तैयार और तत्पर होता है। सत्य के साक्षात के लिये बूढा नहीं, युवा मन चाहिये, और जो अज्ञात और अपरिचित मार्गों के लिये सदा ही कटिबद्ध रहता है वह इस तत्परता के कारण ही मन से कभी बूढा नहीं होने पाता है। शरीर तो बूढा होगा लेकिन मन के बूढे होने की कोई भी अपरिहार्यता नहीं है। वह तो ज्ञात की लीक से बंधे रहने की हमारी वृत्ति के कारण ही बूढ्ढा हो जाता है।

साहस जिनमें नहीं हैं, वे बिना रीढ के प्राणियों की भांति जमीन पर ही रेंगते रहते हैं। साहस ही तो रीढ है। उठो! और अपने साहस को जुटाओ। संकल्प हो तो उसके केन्द्र पर बिखरा हुआ साहस अवश्य ही इकट्ठा हो जाता है।

जीवन पर पुर्नविचार करना आवश्यक है। क्या जमीन पर ही रेंगते रहना है या कि ऊपर उठना है और सूर्य के लोक की यात्रा भी करनी है? जमीन पर रेंगते रहने का अंत जमीन में कब्र को खोज लेने के अतिरिक्त और क्या होगा? लेकिन जो सूर्य की दिशा में यात्रा करते हैं, वे अमृत को भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु वह रास्ता अकेले का है। कोई दूसरा उसमें संगी और साथी नहीं हो सकता। समूह वहां साथ नहीं हो सकता है। इसलिये जो उस लोक की यात्रा का अभीप्सु है, उसे अपने चित्त को सब भांति अकेला करना ही होगा। उसे व्यक्ति बनना होगा। उसे स्वयं की स्वतंत्रता अर्जित करनी होगी। चित्त जब तक समाज के संस्कारों का दास होता है तब तक व्यक्ति समाज का एक अंश मात्र ही होता है, और जब इन संस्कारों से कोई मुक्त होता है तो पहली बार वह व्यक्ति बनता है। मैं ऐसे व्यक्ति नहीं चाहता हूं जो कि समाज के अंश हों, वरन् एक ऐसा समाज चाहता हूं जो कि व्यक्तियों का जोड हो। स्वतंत्र व्यक्तियों से स्वतंत्र समाज भी निर्मित होता है।

साहस के अभाव के कारण ही हम दूसरों के उधार सत्यों को ढोते हैं, और जीवन की उत्तुंग ऊंचाईयों से परिचित होने से वंचित रह जाते हैं। जीवन का वास्तविक अनुभव उस जीवन में नहीं है जो कि जन्म से मिलता है, बल्कि उस जीवन में है जो कि हम स्वयं ही पाते और अर्जित करतें हैं। जीवन, जो हो सकता है, आत्यंतिक रूप से वही होकर, वास्तविक बनता है। उसमें निश्चित सभी

संभावनायें जब वास्तविक बन जाती हैं, तभी वह भी वास्तविक हो, यह स्वाभाविक ही है। उस जीवन में जिसे कि हम दैनंदिन कार्यों के निरंतर पुनरुक्त होने वाले मैदानी और समतल मार्गों पर ही व्यय कर देते हैं, बहुत अज्ञात ऊंचाईयाँ हैं और बहुत अनजान गहराईयां भी हैं और जो उनसे परिचित नहीं होता वह स्वयं से ही परिचित नहीं हो पाता है। लेकिन उन ऊंचाईयों और गहराईयों को पाने के लिये अदम्य साहस की अपेक्षा है। वह साहस भूमि पर सरकनेवालों को तो दुस्साहस ही मालूम होगा, वैसा दुस्साहस जो करता है, वह पागल ही प्रतीत होता है, किंतु मेरी दृष्टि में तो वे लोग धन्य हैं जो कि सत्य को पाने के लिये दुस्साहस करते हैं और पागल हो सकते हैं।

शास्त्रों को हटादें और शब्दों को हटादें और स्वयं को पूर्णतया उधार सत्यों से विच्छिन्न कर लें, ज्ञान की धूल को अपने चित्त से झाड दें। अज्ञान है भीतर तो उसे ही स्वीकार करना है। उस अज्ञान में असुरक्षा ज्ञात हो तो उस असुरक्षा को भी अंगीकार करना है. साहस का और अर्थ ही क्या है? असुरक्षा का सहज स्वीकार ही तो साहस है. किन्तु हम असुरक्षा से भागते हैं और सुरक्षा की शरण लेते हैं, इस कमजोरी का शोषण करनेवाले बहुत हैं वे अनेक अनेक रूपों में सुरक्षा का आश्वासन देते हैं। और उन पर श्रद्धा करने और उनकी शरण गहने के अतिरिक्त उनकी कोई और शर्त भी नहीं होती है। इस भांति उनका अहंकार तृप्त होता है और हमारी सुरक्षा की आकांक्षा तृप्त हो जाती है. फिर तथाकथित गुरू, शास्ता और संप्रदाय, सब इसी मानसिक शोषण पर जीते हैं। लेकिन किसी भी भांति का पलायन न तो अज्ञान को ही नष्ट करता है और न वस्तुतः सुरक्षा ही लाता है। ज्ञान और सुरक्षा वस्त्रों की भांति ऊपर से ओढ लिये जाते हैं और भीतर गहरे में अज्ञान और असुरक्षा का ही राज्य होता है। शत्रु के प्रति आंखें बंद कर लेने से कुछ नहीं होता है? तथ्यों से डरकर अतथ्यों में मुंह छिपाने से भी क्या होगा? तथ्य से भागने से नहीं, तथ्य को ही उघाडने, उसके प्रति जागने और विश्लेषण करने से सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य उन तथ्यों में ही छिपा बैठा है जिनसे कि हम भागना चाहते हैं।

एक बाग में मैं, गया था। वहां मैंने किसी बहुत सुकोमल फूल के बीज देखे, वे तो पत्थर जैसे सख्त और कठोर थे। मैंने कहा:—"बीज को देखो और फूल को देखो, इस सुकोमल फूल की सुरक्षा के लिये ही ऐसी कठोर इस बीज की खोज है, इसमें ही वह कोमल अंकुर छिपा है, जो कि अपने प्राणों में फूलों को बसाये है."

अज्ञान की खोल में ही ज्ञान का दिया छिपा है. और असुरक्षा के बीज में ही परम सुरक्षा के फूल सोये हुये हैं।

जीवन उनका है जो उसे जीतते हैं, उनका नहीं जो कि उससे भागते हैं। जीवन से पलायन व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी है। विजय का सूत्र पलायन नहीं, परिवर्तन है. स्वयं से भाग नहीं, वरन् स्वयं को बदलो. और बदलाहट के लिये साहस चाहिए. संकल्प चाहिये, श्रम चाहिये, शक्ति चाहिये. और इन सबकी उत्पत्ति स्वयं पर श्रद्धा से होती है. लेकिन हम स्वयं पर नहीं, सदा और किसी की श्रद्धा में ही बंध जाते हैं. पर श्रद्धा, आत्म श्रद्धा का अभाव है। उससे शक्ति नहीं, अशक्ति ही आती है. और जीवन बहुत गहरे में पंगु हो जाता है ।

आत्म श्रद्धा शक्ति है. स्वयं पर विश्वास से ही शक्ति के सोये स्रोत सजग होते हैं. स्वयं पर जहां विश्वास है, वहीं–उसी केन्द्र पर–साहस इकट्ठा होता है। और यदि हम थोडा सा भी साहस जुटा पायें तो गति संभव हो जाती है और फिर गति से साहस आता है और साहस से गति बढती है. चलने से ही चलने का विश्वास आता है और विश्वास आने से चलने की शक्ति बढती है। एक कदम भी जो उठा सकता है, वह फिर हजारों मील की यात्रा करने में समर्थ हो जाता है क्योंकि एक बार में एक कदम से ज्यादा तो किसी को भी नहीं उठाना है और कोई यदि उठाना भी चाहे तो भी उठा तो नहीं सकता। बडी से बडी यात्रा एक एक कदम उठाकर ही तय होती है और एक भी कदम न उठा सके, ऐसा कमजोर कौन है? हम यदि थोडा सा साहस और आत्मविश्वास जुटायें तो एक कदम तो निश्चित ही उठा सकते हैं। स्वयं की जडता में थोडा सा भी चैतन्य का प्रवेश चेतना के और जागरण के लिये प्रेरणा बन जाता है। शक्ति का थोडा सा भी प्रयोग, और शक्ति के सक्रिय होने के लिये आमंत्रण बन जाता है।

क्या वह भजन आपने सुना है जिसमें कहा गया है: 'परमात्मा, एक ही कदम मेरे लिये काफी है।' सच ही, जिसे चलना है, उसके लिये एक कदम उठाने की शक्ति ही काफी है और जिसे नहीं चलना है उसके पास कितनी भी शक्ति हो तो वह उसका क्या करेगा? उसकी शक्ति ही उसका विनाश बन जायेगी क्योंकि जिस शक्ति का उपयोग नहीं होता है वह आत्मघाती रुपों में प्रयुक्त होने लगती है। शक्ति यदि सृजन न बन सके तो विनाश बन जाती है।

यह अक्सर ही मुझसे पूछा जाता है कि क्या कारण है कि हम अपनी शक्ति और संकल्प को इकट्ठा नहीं जुटा पाते हैं और जीवन ऐसे ही चुक जाता

है? क्या कारण है कि हमारी शक्ति सर्जक नहीं बन पाती है? क्या कारण है कि सत्य की दिशा में हमारे चरण नहीं उठ पाते हैं और हम भूमि में ही गडे रह जाते हैं?

मैं इस आधारभूत सवाल पर विचार करता हूं तो मुझे दिखाई पडता है कि हम अपनी शक्तियों को इस कारण ही केन्द्रित नहीं कर पाते हैं, क्योंकि सत्य की जिज्ञासा हमारे भीतर कभी ज्वलंत प्यास नहीं बन पाती है और मात्र बौद्धिक ऊहापोह ही बनी रहती है। बौद्धिक ऊहापोह इतनी सतही बात है कि उसके कारण गहरे में सोई हुई शक्तियां नहीं जाग सकती हैं। फिर जो मात्र वैचारिक है उससे प्राणों की समग्रता अस्पर्शित ही रह जाती है. प्राण तो विचार से नहीं, प्यास से आन्दोलित होते हैं। और जब प्राण विकल होते हैं तभी वह चुनौती आती है जो कि शक्तियों को जगाती है और एकत्रित करती है। विचार और मात्र विचार अत्यंत निष्प्राण क्रिया है। इसलिये ही कोरे तत्वचिन्तक केवल चिन्तन में ही चलते हैं, वस्तुतः उनके जीवन में कोई गति नहीं होती है और इसलिये जीवन भी नहीं होता है। सत्य जिज्ञासा विचारण की ही नहीं, प्राणों की अभीप्सा भी बनती चाहिये तभी वह अपूर्व यात्रा प्रारंभ होती है जिसे कि मैं धर्म कहता हूं।

बौद्धिक जिज्ञासा—कोरा बौद्धिक ऊहापोह—तो खुजली की खुजलाहट जैसा है। वह तो एक रुग्णता है। उसमें जो रस भी है वह भी अस्वस्थ है और घातक है।

साहस, शक्ति और संकल्प जिज्ञासा के केन्द्र पर नहीं, अभीप्सा के केन्द्र पर ही सक्रिय होते हैं।

जिज्ञासा अभीप्सा तक ले चले तो शुभ है लेकिन यदि वह अपने ही भीतर कोल्हू के बैल की भांति चक्कर लगाने लगे तो अशुभ हो जाती है।

एक युवक मेरे पास आया था। वह सत्य जानना चाहता था। मैंने उससे पूछा: 'सत्य जानना चाहते हो या कि सत्य के संबंध में जानना चाहते हो? सत्य के सम्बन्ध में जानना बहुत सरल है, लेकिन अंत में पाओगे कि जो जाना वह सत्य नहीं है। और सत्य ही जानना चाहते हो तो मार्ग पर्वतीय है और बहुत दुर्गम है। और सत्य मूल्य मांगता है और छोटा मोटा मूल्य नहीं, पूरे जीवन का ही मूल्य मांगता है। क्या इतनी प्यास अनुभव होती है कि अपने प्राणों को बाजी पर लगा सको?' वह बहुत देर तक बैठा सोचता रहा। मैंने उससे कहा: "प्यासा पानी पीने के लिये इतना नहीं सोचता है. जाओ और

शास्त्रों को पढ़ो। शब्दों को सीखो और उससे अपनी तृप्ति कर लो। किन्तु स्मरण रखना कि सत्य विचारों के संग्रह से नहीं, वरन् प्राणों की प्रज्वलित प्यास से ही पाया जाता है। जहां गहरी प्यास है, वहीं उसकी प्राप्ति है।"

जिज्ञासा————————मात्र जिज्ञासा कोरा कुतुहल है, वह बहुत अपरिपक्व मस्तिष्क का लक्षण है। परिपक्वता जिज्ञासा को प्यास में बदल देती है। सत्य के संबंध में नहीं, तब हम सत्य को ही जानना चाहते हैं। उसके पूर्व फिर संतृप्ति नहीं होती है।

एक अद्भुत साधु था: बोधिधर्म. वह हमेशा दीवार की ओर ही मुंह करके बैठता था। लोगों की ओर पींठ और दीवार की ओर मुंह! यह पागलपन ही है न? लेकिन जिनकी आंखों में सत्य की अभीप्सा न हो, उनकी ओर देखकर बात करना और दीवार की ओर देखकर बात करने में क्या कोई भेद है? बोधिधर्म से लोग इस असाधारण व्यवहार का कारण पूछते तो वह कहता: "मैं तुममें भी दीवार ही पाता हूं क्योंकि जिनके भीतर सत्य की अभीप्सा नहीं है, जिन्हें उसकी प्यास नहीं है, उनपर उसकी वर्षा दीवार पर ही वर्षा है।"

सत्य भी केवल उनकी ओर की मुंह करता है, जिनके प्राण उसके लिये प्यासे हो जाते हैं। और सत्य भी केवल उनके लिये ही द्वार देता है, जो कि अपनी समग्र शक्ति और संकल्प से उसे पुकारते हैं।

सत्य की गहरी प्यास में ही स्वयं की बिखरी शक्तियां इकट्ठी हो जाती हैं. शक्ति हमेशा प्यास के केन्द्र पर ही इकट्ठी होती है। जहां, जिस दिशा में प्यास है वहीं शक्ति प्रवाहित होने लगती है। पानी जैसे ढाल की ओर बहता है वैसे शक्ति भी प्यास की ओर बहती है। और पानी जैसे गड्ढों में इकट्ठा हो जाता है, वैसे ही शक्ति भी प्यास में इकट्ठी हो जाती है। वस्तुतः प्यास ही शक्ति बन जाती है। प्यास ही शक्ति है।

एक प्रेयसी ने अपने प्रेमी से कहा: "क्या तुम मुझे प्रेम करते हो?" उस पागल प्रेमी ने कहा: "कैसे विश्वास दिलाऊं? शब्द तो प्रमाण नहीं हो सकते!" प्रेयसी ने कहा: "गांव के पीछे जो पहाड है, उसे खोदकर अलग कर दो." रात्रि हो रही थी। सूरज डूब रहा था। वह युवक उठा, उसने फावडा उठाया और पहाड़ खोदने चला गया। और बडी मीठी कथा है कि सुबह होने के पूर्व उसने पहाड़ खोदकर फेंक दिया था! यह बात कितनी काल्पनिक, लेकिन फिर भी कितनी सच है! जिसके भीतर प्यास है, प्रेम है, उसके भीतर शक्ति भी है। जिसके भीतर आत्मविश्वास है, उसके भीतर शक्ति भी है। असल में मार्ग में

पहाड हैं ही, इसलिये कि हमारे भीतर ज्वलंत प्यास नहीं है। प्यास हो तो पहाड मिट जाते हैं! मार्ग की अडचनें, प्यास के अभाव की प्रतीक हैं। प्यास की जलती अग्नि हो तो कंटकाकीर्ण वनपथ भी राजपथ हो जाता है।

जिज्ञासा प्राणों को दांव पर नहीं लगा सकती। लेकिन अभीप्सा सब कुछ दांव पर लगा सकती है। और जब तक सत्य प्राणों से भी ज्यादा मूल्यवान नहीं है, जब तक कि उसपर, उसके लिये स्वयं को न्यौछावर नहीं किया जा सकता है, तब तक हम उसके दावेदार भी कैसे हो सकते हैं? सत्य के ऊपर भी यदि कोई चीज आपको ज्ञात होती है तो जान लें कि अभी आपकी प्यास पैदा नहीं हुई है और अभी वह शुभ मुहूर्त नहीं आया है कि आप उसकी खोज के लिये निकल सकें। प्यास के बिना प्राप्ति असंभव है। निकट ही सरोवर हो और हमें प्यास न हो तो उस सरोवर के दर्शन नहीं हो सकते। पानी की पहचान पानी में नहीं प्यास में है] प्यास न हो तो पानी पहचाना ही नहीं जा सकता है।

रोज ही अनेक व्यक्ति मुझे मिलते हैं, जोकि सत्य की या परमात्मा की तलाश में हैं। साधु, संन्यासी मुझे मिलते हैं, जिन्होंने कि अपना पूरा जीवन ही गवां दिया है, लेकिन सत्य को नहीं पा सके हैं। मैं उनसे पूछता हूं कि सबसे पहले यह खोजो कि सत्य को खोजने के पहले सत्य की प्यास पैदा हो गई है या नहीं? अगर सत्य की प्यास पैदा नहीं हुई है और दूसरों के कहने के कारण सत्य की खोज में निकल पडे हो तो इस धंधे में गंवाने के सिवाय कमाना नहीं हो सकता।

एक तो वह भूख है जो मुझे अनुभव होती है और एक वह भूख भी है जो कि यदि आप सब कहें कि मुझे लगी है तो मुझे आभासित होने लगे। लेकिन निश्चय ही इन दोनों भूखों में जमीन आसमान का भेद होगा। असत्य भूख की खोज भी असत्य ही होगी। उसकी ओर जीवन शक्ति का प्रवाह नहीं हो सकता है।

धर्मशास्त्रों के परम्परागत प्रचार और साधु संन्यासियों के सतत उपदेशों के कारण सत्य की झूठी भूख भी पैदा हो जाती है। ऐसी भूख जीवन को बिल्कुल ही नष्ट कर देती है। फिर सत्य के अधिकांश तथाकथित खोजियों में तो सच्ची भूख तो दूर, झूठी भूख भी नहीं होती. वे तो जीवन के उत्तरदायित्व से बचने के लिये ही इस दिशा में आ जाते हैं। जीवन का संघर्ष बहुतों को जीवन से पलायन के लिये प्रेरित कर देता है। इसी पलायन का आत्यंतिरुप आत्मघात में प्रगट होता है। फिर जहां ऐसे पलायन को भी संन्यास के नाम

से आदर और पूजा मिलने की सुविधा हो, वहां तो बहुत ही सुविधा हो जाती है। यही कारण है कि जिन देशों में, जिन जातियों में संन्यास की सुविधा और समादर है, उन देशों और जातियों में आत्मघात की घटनाओं का अनुपात कम है, क्योंकि बहुत से भगोडे संन्यास में शरण पा जाते हैं और बहुत से आत्म-घाती प्रवृत्तियों के लोगों को भी जीवित रहते हुये भी मरने का मार्ग मिल जाता है। आलस्य और प्रमाद भी बहुतों को संन्यास में ले जाता है। श्रमहीन शोषण की प्रवृति भी संन्यास में ले जाती है। अहंकार की तृप्ति भी ले जाती है। आत्महिंसा का भाव भी ले जाता है। इस तरह के रुग्णचित्त लोगों को सत्य कैसे मिल सकता है? सत्य पाने के लिये बहुत स्वस्थ चित्त और सत्य की स्वस्थ और सच्ची भूख अपेक्षित है।

सत्य तो निरंतर मौजूद है. किन्तु उससे हमारा संपर्क नहीं, संबंध नहीं। वस्तुतः तो संपर्क भी है, संबंध भी है लेकिन हमें, उस संपर्क का, संबंध का, बोध नहीं है। सत्य में ही हम खडे हैं उसके बाहर होना संभव ही कैसे है? लेकिन उसकी खोज की, उसकी ओर आंख उठाने की, हममें गहरी आकांक्षा ही नहीं है।

इस आकांक्षा को, इस प्यास को, इस अभीप्सा को कैसे पैदा करें? कोई कृत्रिम उपाय तो हो नहीं सकता है। और किसी कृत्रिम उपाय से जो प्यास पैदा भी होगी, वह कृत्रिम ही होगी प्यास सहज ही फलित होनी चाहिये तो ही वह सत्य और अकृत्रिम और स्वाभाविक हो सकती है।

मैं स्वयं सत्य की स्वाभाविक अभीप्सा को सहज ही उपलब्ध हुआ। जीवन के प्रति आंख खोलने से, वह मेरे भीतर अनायास ही पैदा होने लगी। जैसे जैसे मैंने जीवन को—चारों ओर घिरे जीवन को—अनुभव किया, उसकी समग्रता में बिना किसी पूर्वाग्रह के मैं उसके प्रति जैसे जैसे जागा, वैसे वैसे ही मैंने एक अभिनव आकांक्षा को स्वयं में जन्म पाते हुये पाया। मैं जगत् और जीवन के प्रति जाग रहा था तो मुझमें सत्य के प्रति प्यास जाग रही थी। जीवन को देखें—उसकी समग्रता में. उसके सौन्दर्य को, उसकी कुरूपता को, उसके फूलों को, और उसके कांटों को, पतझर को और बसंत को, जन्म को और मृत्यु को, प्रकाश को और अंधकार को, साधु को और असाधु को, सबको देखें—सब कुछ देखें। आंखें खुली हों और किसी तथ्य के प्रति उन्हें बंद न करें और किसी तथ्य की दूसरों से गृहीत व्याख्या न करें, क्योंकि ऐसी सीखी हुई व्याख्यायें ही स्वयं की जिज्ञासा के आविर्भाव में बाधा बन जाती हैं, शास्त्र और शब्दों के द्वारा जीवन को देखना न देखने के ही बराबर है। जीवन और स्वयं के बीच सीधा संपर्क होने दें. जीवन का

आघात निर्बाध स्वयं पर पडने दें। स्वयं को जीवन के प्रति खोलें——— अशेष भाव से खोलें और देखें। किसी विचार की भूमि पर खडे होकर न देखें क्योंकि वह देखना ही नहीं है। किसी धारणा की बिन्दु पर खडे होकर अनुभव न करें क्योंकि वह अनुभव करना ही नहीं है। पक्षपातशून्य–समस्त आग्रहों से मुक्त–होकर जो जीवन का अनुभव करता है, वह जीवन के सत्य को जानने की एक दुर्दयनीय अभीप्सा से भर जाता है।

और न केवल बाहर के प्रति सम्यक् और निष्पक्ष दृष्टि चाहिये बल्कि भीतर के प्रति और भी ज्यादा चाहिये। स्वयं के चित्त मार्गों को भी वैसे ही देखना होता है जैसे कि कोई किसी झरने को पहाड से झरते देखे या कि पक्षियों को आकाश में उडते देखे। क्रोध को और काम को, घृणा को और प्रेम को, मोह को और लोभ को, और मूलतः अहंकार को———सबको देखना है। उनका दर्शन ही सत्य के ज्ञान की गहरी प्यास को जगाता है।

जीवन के दर्शन से रहस्य का अनुभव होता है. रहस्य से जिज्ञासा जन्मती है। और स्वयं के चित के दर्शन से बहुत पीडा और अज्ञान का अनुभव होता है और उसके अतिक्रमण की अभीप्सा पैदा होती है.

एक साधु मृत्यु के निकट था। शरीर तो मृत्यु में डूब रहा था लेकिन उसकी आंखों में अपूर्व ज्योति थी। किसी ने उससे पूछा: "मृत्यु में भी आप इतने शांत और आनंदित है?" वह बोला: "मैं जहां हूं, वहां मृत्यु नहीं है. "और किसी ने पूछा:" आप साधु कैसे हुये? सत्य के खोजी कैसे हुये?" वह बोला: "आंख खोलकर जगत् को देखा और स्वयं को देखा तो सत्य को खोजने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही न रहा। और जैसे जैसे सत्य की दिशा में चरण उठे वैसे ही पाया कि जीवन से सारी असाधुता अपने आप ही बह गई है। साधु मैं कभी हुआ नहीं, उल्टे साधुता ही मुझ तक आई है."

लेकिन, हम कहेंगे कि क्या हम आंखें खोलकर नहीं देख रहे हैं? आंखें तो हमारी भी खुली हुई दिखाई पडती है, लेकिन फिर भी वे खुली हुई नहीं हैं। क्योंकि, आंखें जब खुलती हैं तो जीवन की सारी मूर्च्छा टूट जाती है और सारा सम्मोहन नष्ट हो जाता है. आंखें खुली हों तो पैर स्वयं ही सत्य की ओर बढने लगते हैं. सत्य की अभीप्सा के अतिरिक्त आंखें खुली होने का और कोई प्रमाण नहीं है।

आंखें खोलकर देखने का क्या अर्थ है? अर्थ है उसपर रूक जाना जो कि सामान्यतः दिखाई पड रहा है वरन् उस तक प्रवेश करना जो कि दिखाई

पडनवाले के पीछे छिपा है और दिखाई नहीं पड रहा है। जो दृश्य है, वह अदृश्य को छिपाये हुये है। दृश्य, अदृश्य की खोज मात्र है। वह आवरण ही है। वही सब कुछ नहीं है।

गौतम बुद्ध का जन्म हुआ तो ज्योतिषियों ने उनके पिता को कहा कि इस पुत्र के संन्यासी हो जाने की संभावना है। स्वभावतः ही पिता चिन्तित हुये। यह एक ही उनका पुत्र था और उसका जन्म भी बहुत प्रतीक्षा से हुआ था। उन्होंने पूछाः "इसे संन्यास से बचाने का क्या उपाय है?" 'और जो उपाय बताया गया, वह ऐसा उपाय था कि जिसके कारण बुद्ध की आंखें बंद रहे और जीवन के तथ्य उन्हें दिखाई न पड सकें। क्योंकि जो जीवन के तथ्यों को ही नहीं देख पाता है, वह जीवन के सत्य को जानने की व्याकुलता से नहीं भर सकता। ऐसा ही किया गया। दुख, पीडा, मृत्यु इनका बुद्ध को दर्शन न हो, ऐसी व्यवस्था की गई, जीवन के आघातों से उन्हें सुरक्षित रखा गया क्योंकि आघात विचार को पैदा करते हैं। उनके आसपास सुन्दर युवा और युवतियां ही आ जा सकते थे। वृद्ध और रुग्ण व्यक्तियों को उनके पास नहीं ले जाया जाता । उनके बाग में से कुम्हलाये फूल और पत्ते रात्रि में ही अलग कर दिये जाते थे ताकि उन्हें किसी भी भांति जीवन के मुरझाने और समाप्त होने का ख्याल न आ सके। युवा होने तक वे मृत्यु के तथ्य से अपरिचित रहे। उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ कि जगत में मृत्यु भी होती है। लेकिन यही व्यवस्था अंततः उनकी आंखें खोलने का कारण बन गई। बुद्ध के पिता ने मुझसे पूछा होता तो ऐसी भूल भरी सलाह मैं कभी न देता! चूंकि उन्होंने बुढापे के तथ्य को कभी नहीं जाना था, इसलिये जब जाना तो वे चौंक गये। और वह आघात इतना तीव्र और गहरा हुआ कि उनकी आंखें खुल गई। यदि वे बचपन से ही इसके आदी होते तो संभवतः आघात इतना तीव्र और आन्दोलनकारी नहीं हो सकता था । एक युवक– महोत्सव में जाते हुये उन्होंने पहली बार किसी वृद्ध को और पहली बार किसी मृतक की शवयात्रा को देखा। उन्होंने अपने सारथी से पूछाः 'यह क्या हो गया है?' सारथी ने कहाः "पहले व्यक्ति वृद्ध होता है और फिर मर जाता है ।" बुद्ध ने पूछा : "क्या मैं भी ऐसे ही मर जाऊंगा?" सारथी ने कहा : "प्रभु, कोई भी अपवाद नहीं है। जो जन्मता है, उसे मरना ही होता है।" बुद्ध ने सारथी से कहाः "रथ वापस लौटा लो। मैं वृद्ध हो गया हूं और मैं मर गया हूं।"

इसे मैं आंख खोलकर देखना कहता हूं।

मित्र, मैं पुनः दोहराता हूं : "इसे मैं आंखें खोलकर देखना कहता हूं ।"

बुद्ध, युवा हुये तब तक उनकी आंखें बंद थीं। हममें से बहुत से बूढे हो जाते हैं फिर भी उनकी आंखें बंद ही रहती हैं। जीवन के तथ्यों के हम इस भांति आदी हो जाते हैं कि उनका हम पर कोई आघात ही नहीं होता। उनके द्वारा हमपर कोई चोट ही नहीं पडती। और आघात न हो तो विचार कैसे होगा? और आघात न हो तो जागरण असंभव है जीवन के प्रति हमारी संवेदनशीलता इतनी कम है कि उसके आघात हमारी निद्रा को तोड़ने में असफल हो जाते हैं। और फिर इस निद्रा को हम बहुत सी शास्त्रीय व्याख्याओं से और भी गहरा और निरापद कर लेते हैं। जब कोई मरता है तो हम कहते हैं– "आत्मा तो अमर है।" और इस भांति स्वयं पर होने वाले आघात से बच जाते हैं। आंखें खुली हों और हृदय संवेदनशील हो तो मृत्यु की प्रत्येक घटना में स्वयं की मृत्यु के दर्शन होगें ही और उस दर्शन में ही वह आघात है, जो कि जीवन को अमृत की खोज में संलग्न करता है। संवेदनशील चित्त सत्य को जानने को उत्सुक और आकुल हो ही उठता है। गहरी संवेदनशीलता ही धार्मिक चित्त की आधारभूमि है। जडता धर्म में नहीं ले जा सकती है। लेकिन हम तो करीब करीब जड की भांति व्यवहार करते हैं। क्या रात्रि में आकाश के तारे आपके प्राणों को झंकृत करते हैं? क्या पतझर में उडते सूखे पत्ते आपके हृदय की गहराई में कोई प्रतिध्वनि जगा जाते हैं? क्या पडौसी की पीडा आपको स्पर्श करती है? क्या राह पर खडे वृद्ध भिखारी की आंखों में आपको अपनी ही आंखें दिखाई पडती हैं? वीणा के तारों की भांति संवेदनशील हृदय ही जीवन के सुखों–दुखों, सौन्दर्य–असौन्दर्य, आंसुओं और आनंदों के प्रति सजग और सचेत हो पाता है। उस सजगता को ही मैं आंखें खोलकर देखना कहता हूं।

और आंखें खुली हों तो और भी बहुत कुछ दिखाई पडता है।

हमने सुना है कि महावीर के पास राज्य था, बुद्ध के पास राज्य था। लेकिन वे अपने राज्य को ठोकर मारकर चले गये, फिर भी हम तो राज्य की ही खोज में लगे रहते हैं। जिनके पास मात्र धन है, क्या उनके पास आनंद भी है? लेकिन हम तो धन की ही खोज में लगे हैं? क्या जिनके पास मात्र पद हैं, वे शांति में हैं? लेकिन हम तो पदों की ही खोज कर रहे हैं? निश्चय ही हम अंधे होंगे, नहीं तो जिन गड्ढों में दूसरे गिरे हैं, हमारी यात्रा भी उन्हीं गड्ढों की ओर क्यों होती है? और क्या हमने कभी सोचा है, विचारा है कि महत्वाकांक्षी चित्त, आनन्द और शांति को कैसे पा सकता है? जहां तृष्णा है, वहां दुख अपरिहार्य है। वस्तुतः दुख के सारे बीज तृष्णा में ही तो छिपे होते हैं।

स्पष्टतः ही आंखें खुली हों तो हम स्वयं के चित्त को देखेंगे और जानेंगे उसकी थोथी अहंता दिखाई पडेगी, विनम्रता में भी उसके दर्शन होंगे। हिंसा दिखाई पडेगी, तथाकथित अहिंसक आचरण में भी उसकी छाया होगी। घृणा, क्रोध और प्रतिशोध का सतत् दर्शन होगा। लोभ और तृष्णा स्वांस में अनुभव होगी। वह रूप हमारी वास्तविकता नहीं है। जो कि हम दूसरों को दिखाते हैं। थोडा ही गहरा देखने से उस व्यक्ति से मिलना होगा जो कि वस्तुतः हम हैं. और उसकी पशुता का दर्शनही उसे अतिक्रमण करने के लिये पर्याप्त कारण और प्रेरणा बन जाता है ।

इस तथाकथित जीवन को उसकी समस्त तथ्यता में—बाहर और भीतर उसके समस्त रूपों में देखने से ज्ञात होता है कि हम जिस भवन को अपना निवास समझे हुये हैं, वह लपटों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

और इन लपटों के दर्शन से विचार उठता है कि क्या जीवन यही है? क्या यही है हमारे होने की सार्थकता? क्या यही है हमारे अस्तित्व का अर्थ और अभिप्राय? और स्वयं जिसने इन लपटों को जाना और पहचाना है और उनके ताप को अनुभव किया है और उनकी जलन में से गुजारा है, उसके लिये यह जिज्ञासा मात्र बौद्धिक ऊहापोह नहीं रह जाती है। उसके लिये तो बन जाती है यह जीवन मरण की समस्या, उसके लिये यह प्रश्न अति गंभीर हो उठता है। उसके समाधान पर ही अब उसके प्राण निश्चिन्त हो सकते हैं। यह खोज उसके लिये समस्या ही नहीं, संताप बन जाती है ।

और स्मरण रहे कि जीवन की समस्या जहां एक जीवन्त संताप है, वहीं —उस संताप के निकट ही सत्य भी है। क्योंकि संताप सत्य को जानने के लिये प्राणों को उनकी समग्रता में व्याकुल कर देता है और यह व्याकुलता एक ऐसे आन्दोलन का प्रारंभ बन जाती है, जो कि अंततः आमूल आत्मक्रांति में ले जाता है ।

लेकिन, जीवन का संताप स्वयं अनुभव होना चाहिये। वह किसी की शिक्षा का फल नहीं हो सकता है। मैं कह रहा हूं इसलिये आप मान लें कि जीवन गृह में आग लगी है, तो वह अनुभूति झूठी और मिथ्या होगी। और वैसी प्रतीति उस गृह के बाहर आने के लिये या गृह बदलने के लिये आधार नहीं बन सकती है। मैं किसी घर में ठहरा होऊं और कोई मुझसे आकर कहे कि भवन में चारों ओर आग लगी है, लेकिन मुझे स्वयं कहीं भी आग दिखाई न पडती हो तो मैं क्या करूंगा? क्या मैं उस घर को छोड दूंगा? और यदि छोड भी दूं तो

क्या वह छोडना मूर्खतापूर्ण ही नहीं होगा? लेकिन यदि मुझे स्वयं ही दिखाई पडे कि भवन लपटों से घिरा है, तो क्या मैं बाहर निकलने के लिये किसी की सलाह लेने जाऊंगा? या कि बाहर निकलने की सम्यक विधि खोजने को शास्त्रों का अध्ययन करने बैठूंगा ? नहीं, मित्र, तब तो वह दर्शन ही कर्म बन जाता है। यह देख लेना ही कि मैं लपटों में घिरा हूं, बाहर निकलने के सहज और अंतः प्रेरित कर्म में परिणत हो जाता है।

आंखें बंद हों तो हम एक निद्रा में होते हैं, एक मूर्च्छा में और एक सम्मोहन में और उसके कारण उस सबके प्रति अचेत बने रहते हैं जो कि चारों ओर प्रतिक्षण घटित हो रहा है।

आंखें खोलो और देखो। धर्म में जो उत्सुक होते हैं, वे तो उल्टे उल्टे आंखें बंद करने का अभ्यास करने लगते हैं। मैं कहता हूं आंखें खोलो और देखो क्या आपका भवन अग्नि की भेंट नहीं चढा हुआ है? क्या जिस भूमि पर आप खडे हैं, वही आपकी चिता बनने को नहीं है? हम सब चिता पर चढे हुये हैं, और चिता की आग प्रतिपल हमें अपने आप में मिलाती जा रही है। थोडी ही देर बाद जिसे हमने जीवन जाना है, वह राख के अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध होने को नहीं है।

एक सुबह मैं उठकर बैठा ही था कि कुछ मित्र आ गये। वे मुझे खूब बधाईयाँ देने लगे। मैंने पूछा—बात क्या है? बोले: "आपका जन्मदिन है।" यह सुन मुझे खूब हंसी आई और मैंने उनसे कहा: "जो जन्मदिन है, क्या वही मृत्यु दिन भी नहीं? क्योंकि जन्म के क्षण के बाद जिसे हम जीवन जानते हैं, वह मुत्यु के क्रमिक आगमन के अलावा और क्या है? जिस दिन पालने पर किसी को रखा जाता है, उसी दिन उसकी कब्र भी खुदनी शुरू हो जाती है। जन्म जीवन नहीं है, क्योंकि जन्म तो मृत्यु का आरंभ है। निश्चय ही जो जीवन है, वह जन्म और मृत्यु दोनों अतीत ही हो सकता है।"

क्या विचार करने से यह प्रतीति नहीं होती है? क्या जन्म और मृत्यु के तथ्यों में झांकने से उनसे तृप्ति होती है? जो उन्हें जागकर देखता है, वह उनसे तृप्त नहीं होता है। और उसकी अतृप्ति ही वास्तविक जीवन के लिये अभीप्सा बन जाती है।

धर्म की साधना धर्म को मानने से नहीं वरन् जीवन को जानने से प्रारम्भ होती है। वह विश्वास नहीं, विवेक है। वह दूसरों के द्वारा अनुप्रेरित कामना नहीं, वरन् स्वयं की अंतःसत्ता से अभीप्सित जीवन है।

यह सत्य है कि मनुष्य अब पशु नहीं है, लेकिन क्या यह भी सत्य है कि मनुष्य मनुष्य हो गया है? पशु होना अतीत की घटना हो गई है पर मनुष्य होना भी अभी भविष्य की संभावना है। शायद हम मध्य में हैं और यही हमारी पीड़ा है, यही हमारा तनाव है, यही हमारा संताप है। जो प्रयास करते हैं और स्वयंके इस पीड़ा के अस्तित्व से असंतुष्ट होते हैं, वे ही मनुष्य हो पाते हैं। मनुष्यता मिली हुई नहीं है, उसे हमें स्वयं ही स्वयं में जन्म देना होता है। लेकिन मनुष्य होने के लिये यह अति आवश्यक है कि हम पशु न होने को ही मनुष्य होना न समझ लें और जो हैं उससे तुष्ट न हो जावें। स्वयं से गहरा और तीव्र असंतोष ही विकास बनता है।

सत्य सरल है, शेष सब जटिल है। लेकिन हम सरल नहीं हैं, इसलिये सत्य को पाना कठिन हो जाता है.

चर्चाओं से

मैं दो ही प्रकार के मनुष्यों को जानता हूं। एक तो वे जो सत्य की ओर पीठ किये हुये हैं और दूसरे वे जिन्होंने सत्य की ओर आंखें उठाली हैं। इन दो वर्गों के अतिरिक्त और कोई वर्ग नहीं है।

विचार शक्ति वैसे ही है जैसे विद्युत् या गुरुत्वाकर्षण। विद्युत् का उपयोग हम जान गये हैं लेकिन विचार का उपयोग अभी सभी को ज्ञात नहीं है। फिर जिन्हों ज्ञात है वे भी उसका उपयोग नहीं कर पाते हैं क्योंकि उस उपयोग के लिये स्वयं के व्यक्तित्व का आमूल परिवर्तन आवश्यक है ।

सत्य और स्वयं के मध्य कोई अलंघ्य खाई नहीं है सिवाय, साहस के अभाव के।

——मनुष्य भी कैसा अद्भुत है, उसके भीतर कूडे करकट की गंदगी भी

है और स्वर्ण की अमूल्य निधि भी। और हम किसे उपलब्ध हो जाते हैं, यह बिल्कुल ही हमारे हाथ में है।

—प्रभु को भीतर पाते ही सर्वत्र उसीके दर्शन होने लगते हैं। वस्तुतः जो हममें होता है, उसकी ही हमें बाहर भी अनुभूति होती है। ईश्वर नहीं दिखाई पडता है, तो जानना कि अभी तुमने उसे भीतर नहीं खोजा है ।

★ ★ ●

—सत्य का सृजन नहीं करना है। उसका सृजन किया भी नहीं जा सकता। और जिसका सृजन हो सके जानना कि वह असत्य है, सत्य का सृजन नहीं, दर्शन होता है। स्वयं के पास उसे ग्रहण करनेवाली आंखें भर हों तो सत्य तो सदा ही उपस्थित है.

—'जो है' उसे जानने के लिये स्वयं को दर्पण बनाना आवश्यक है। विचारों की छायायें चित्त को अविकृत नहीं रहने देती हैं। जैसे ही विचार शांत होते हैं और चित्त शून्य, वैसे ही भीतर वह दर्पण उपलब्ध हो जाता है जोकि सत्य के प्रतिफलन में समर्थ होता है.

—जो हुआ है, वह अनहुआ हो सकता है। जो किया है, वह अनकिया हो सकता है। मनुष्य कर्म में बंधने में समर्थ है तो मुक्त होने में भी समर्थ है। उसकी परतंत्रता भी उसकी स्वतंत्रता ही है।

—स्वतंत्रता आत्मा का स्वरूप है। इसलिये यदि संकल्प हो तो कैसी भी परतंत्रता को क्षण में ही तोडा जा सकता है। संकल्प का, अनुपात ही स्वतंत्रता का अनुपात है।

—मैं रोज ही मर जाता हूं———वस्तुतः प्रतिक्षण ही मर जाता हूं और इसे ही मैंने जीवन का———चिर जीवन का रहस्य जाना है। जो अतीत को ढोता है, वह मृत को ढोने के कारण मृत होता है।

—जीवन की बडी से बडी यात्रा के लिये एक कदम उठाने का साहस ही काफी है क्योंकि एक कदम से अधिक तो एक ही साथ कोई भी नहीं चल सकता है। मित्र, हजारों मील की यात्रा भी एक ही कदम से आरंभ होती है और एक ही कदम से पूरी होती है।

—प्रभु की खोज क्या है? अपने खोये घर की खोज। संसार में मनुष्य बेघर है और अजनबी है।

—सत्य की परिभाषा पूछते हो? सत्य की कोई परिभाषा नहीं है क्योंकि स्वयं की ही स्वयं के द्वारा क्या परिभाषा हो सकती है? पायलट ने क्राइस्ट

से पूछा था: 'सत्य क्या है?' क्राइस्ट ने पायलट की ओर मात्र देखा भर और चुप रहे। सत्य कोई सिद्धांत नहीं है। सत्य कोई शब्द नहीं। सत्य तो अनुभूति है———स्वयं की आत्यंतिक गहराई की अनुभूति। 'जो है' उसके साथ एक हो जाना सत्य है।

——जीवन हमें तभी मिलता है जब हम अपनी आत्यंतिक गहराई को स्पर्श करते हैं———अन्यथा हम केवल जीते हैं। और मात्र जीने और जीवन में उतना ही भेद है जितना कि मृत्यु और जीवन में है।

——धर्म का क्या अर्थ है? कीचड से कमल की ओर जाना। कीचड भी वही है, कमल भी वही है————पर कितना भेद है!

——धर्म कोई अमूर्त कल्पना नहीं है। धर्म तो है प्रत्यक्ष व्यवहार। धर्म कोई विचार नहीं। धर्म तो है अनुभूति। जिन बातों से हमें दुख होता है, वे बातें हमसे दूसरों के प्रति न हों ऐसी चित्तदिशा में प्रतिष्ठा ही धर्म है।

——धर्म को मुंह में मत रखो। उसे भी पेट में जाने दो और खून बनने दो। रोटी के टुकड़े को मुह में रखे रहने से पेट नहीं भरता है।

——धर्म का अर्थ है मृत्यु———स्वयं की मृत्यु। जिसका स्व नहीं मरता है, वह सर्व को कैसे पा सकेगा? अहं को छोडो और अपनी पूजा कम करो। अपनी पूजा छोड़ देना ही परमात्मा की पूजा है।

——मैं विचार का स्वतंत्र दीपक जलाने को कहता हूं। विचार की दृष्टि से किसी के दास मत बनो। सत्य उनका है जो अपने स्वामी हैं।

——जीवन तो बांसुरी की भांति है————भीतर खाली और रिक्त लेकिन संगीत की अनंत सुप्त संभावनाओं को लिये हुये। जो जितना उसे बजाता है उतना ही संगीत उससे पैदा होता है।

——मैं दूसरों में विश्वास करने को नहीं कहता हूं क्योंकि वह स्वयं में विश्वास के अभाव का परिणाम है.

——एक ऐसी अग्नि भी है जो दीखती नहीं, लेकिन निरंतर स्वयं को जलाती रहती है। वह अग्नि है तृष्णा की। तृष्णा ऐसे ही जलाती है जैसे कोई जलती हुई मशाल को आंधियों के विरोध में लिये खडा हो और स्वयं ही उससे झुलस जाये।

——एक छोटासा दिया वर्षों से घिरे अंधकार को नष्ट कर देता है, ऐसे ही आत्म बोध की एक छोटी सी किरण भी जीवन में घिरे जन्म जन्मों के अज्ञान को नष्ट कर देती है।

—सेवा करना चाहते हैं ? लेकिन स्मरण रखना कि सागर में स्वयं ही डूबता हुआ व्यक्ति किसी दूसरे डूबते हुये व्यक्ति को नहीं बचा सकता है।

—मित्र, ईश्वर को जानना है तो मौन मार्ग है। ईश्वर के संबंध में जो भी कहा जायेगा वह इसी कारण असत्य हो जायेगा कि कहा गया है!

—मनुष्य एक यात्रा है——अनंत के लिये यात्रा। नीत्से ने कहा है: 'मनुष्य की महत्ता यही है कि वह सेतु है, अंत नहीं।'

—मित्र, स्वयं को अनुशासन में मत बांधो. वास्तविक अनुशासन, बंधनों से नहीं, वरन् विवेक के जागरण और मुक्ति से आता है ।

—शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में जो छिपा हो उसे बाहर लाना है। वह बाह्य आदर्श या आदेश नहीं, किन्तु अंतस् का आविष्कार है ।

—मैं उस शिक्षा के विरोध में हूं जो व्यक्तियों को किन्हीं निर्धारित आदर्श के ढांचों में ढालती हो। वैसी शिक्षा से व्यक्तित्व विकसित नहीं, कुंठित ही होते हैं। भय पर आधारित शिक्षा के भी मैं पक्ष में नहीं हूं फिर वह भय चाहे दंड का हो या प्रलोभन का। भय से अधिक विषाक्त और क्या हो सकता है? और आरोपित अनुशासन की भी मैं निंदा करता हूं क्योंकि वह दासता के लिये तैयारी से ज्यादा और क्या है?

—महानता से सरल और कुछ नहीं, वस्तुतः सरलता ही महानता है ।

—एक सत्य सदा स्मरण रखना : दूसरों को दिया गया धोखा अंत में स्वयं को ही दिया गया धोखा सिद्ध होता है।

—हम जो दूसरों के साथ करते हैं, अंततोगत्वा वह हम पर ही लौट आता है।

—क्या आपको ज्ञात है कि कभी भी किसी मनुष्य को दूसरों के द्वारा इतना धोखा नहीं दिया गया है जितना कि प्रत्येक स्वयं को ही देता है!

—प्रकाश सीधी रेखा में गति करता है। सत्य और धर्म भी सीधी रेखाओं में ही गति करते हैं। आपके जीवन की गति रेखा यदि सीधी न हो तो जानना कि आप अंधकार, अधर्म और असत्य के पथ पर हैं ।

—धर्म तो मार्ग है, और मार्ग मात्र जानने से नहीं, चलने से तय होता है ।

—सत्य, असत्य का विरोधी नहीं है। असत्य का विरोधी भी असत्य ही होता है। वस्तुतः सभी अतियां असत्य हैं। **सत्य तो अतियों के मध्य में अर्थात् अतियों के अतीत** होता है ।

—मैं स्वयं के भीतर झांकता हूं तो क्या पाता हूं? पाता हूं कि मोक्ष तो पृथ्वी से भी अधिक समीप है!

सत्य को——स्वयं को खोजने में गुजारा गया समय और व्यय किया गया श्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता, अंततः तो केवल वही बचाया हुआ समय और सार्थक हुआ श्रम सिद्ध होता है।

असत्य को मैंने फूस के ढेर की भांति जाना। उसमें शक्ति तो है ही नहीं। सत्य की छोटी सी चिनगारी भी उसे भस्म कर देती है।

धर्म के लिये सबसे बडा आदर जो हम प्रगट कर सकते हैं— वह है कि हम उसका उपयोग करें और उसे जियें। जो मात्र उसका विचार करता है और जीता नहीं, वह स्वयं ही अपने विचार पर अविश्वास प्रगट करता है।

धर्म का लक्ष्य क्या है? पुरुष में सोये पुरुषोत्तम को जाग्रत करना।

जीवन कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिसका कि उसके बाहर कोई हल खोजना है। जीवन का हल तो पूर्णता से जीने में ही मिल जाता है।

सबसे बडी मुक्ति है स्वयं को स्वयं से मुक्त करना। साधारणतः हम भूले ही रहते हैं कि स्वयं पर हम स्वयं ही सबसे बडा बोझ और बंधन है!

मनुष्य को मनुष्यता बनी बनाई प्राप्त नहीं होती। उसे तो स्वयं ही निर्मित करना होता है। यही सौभाग्य भी है और यही दुर्भाग्य। सौभाग्य क्योंकि स्वयं के सृजन की स्वतंत्रता है और दुर्भाग्य क्योंकि स्वयं को बिना निर्मित किये समाप्त हो जाने की संभावना भी है।

स्वयं के 'मैं' को ठीक से जानना——उसकी पूर्णता में——उससे मुक्त हो जाना भी है। अहंकार, अंधकार की उत्पत्ति है। प्रकाश के आते ही उसका न हो जाना सुनिश्चित है।

मनुष्य को विकास करके ईश्वर नहीं होना है। वह यदि स्वयं को पूरी तरह उघाड़ ले तो अभी और यहीं ईश्वर है। मेरी दृष्टि में स्वयं का संपूर्ण आविष्कार ही एकमात्र विकास है।

मनुष्य का संघर्ष किससे है? स्वयं के 'मैं' से। जो क्रांति करनी है, वह स्वयं के ही अहंकार से करनी है। अहंकार से घिरा होना ही संसार में होना है, और जो अहंकार के बाहर है वही परमात्मा में है——वस्तुतः, वह परमात्मा ही है।

'मैं' से भागने की कोशिश मत करना। उससे भागना हो ही नहीं सकता, क्योंकि भागने में भी वह साथ ही है। उससे भागना नहीं, वरन् समग्र शक्ति से उसमें प्रवेश करना है। स्वयं की अहंता में जो जितना गहरा जाता है, उतना ही पाता है कि अहंता की तो कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है।

परमात्मा का प्रमाण पूछते हो ? क्या चेतना का अस्तित्व पर्याप्त प्रमाण नहीं है ? क्या जल की बूंद ही समस्त सागरों को सिद्ध नहीं कर देती है ?

यह मत कहो कि मैं प्रार्थना में था, क्योंकि उसका अर्थ है कि आप प्रार्थना के बाहर भी होते हो। जो प्रार्थना के बाहर भी होता है, वह प्रार्थना में नहीं हो सकता। प्रार्थना क्रिया नहीं है। प्रार्थना तो प्रेम की परिपूर्णता है।

जीवन की खोज में आत्म तुष्टि से घातक और कुछ नहीं। जो स्वयं से संतुष्ट हैं, वे एक अर्थ में जीवित ही नहीं हैं। स्वयं से जो असंतुष्ट है वही सत्य की दिशा में गति करता है। स्मरण रखना कि आत्मतुष्टि से निरंतर ही विद्रोह में होना धार्मिक होना है।

मृत्यु से घबडाकर तो आपने कहीं ईश्वर का आविष्कार नहीं कर लिया है ? भय पर आधारित ईश्वर से असत्य और कुछ भी नहीं है।

जो सदा वर्तमान में है, वही सत्य है। निकटतम जो है, वही अंतिम सत्य है। दूर को नहीं, निकट को जानो, क्योंकि जो निकट को ही नहीं जानता है वह दूर को कैसे जानेगा ? और जो निकट को जान लेता है, उसके लिये दूर शेष ही नहीं रह जाता है।

"मैं कौन हूं ?" पूछो——स्वयं से पूछो। "मैं कहां हूं ?" खोजो ——स्वयं में खोजो। जब तुम कहीं भी स्वयं को नहीं पा सकोगे तो जान जाओगे कि तुम कौन हो। मैं की 'अनुपलब्धि' में ही 'मैं' का रहस्य छिपा हुआ है।

सत्य यदि ज्ञात नहीं है, तो शास्त्र व्यर्थ हैं और यदि सत्य ज्ञात है तो भी शास्त्र व्यर्थ हैं।

सत्य की जिज्ञासा कर रहे हो और मन पर धूल इकट्ठी करते जाते हो ? मन तो दर्पण की भांति है। उसे साफ करो और तुम पाओगे कि सत्य तो समक्ष है——और सदा से ही समक्ष है।

एक भ्रम को मिटाने को दूसरा भ्रम पैदा मत करो। एक स्वप्न तोड़ने को दूसरे स्वप्न में जाना उचित नहीं है। ईश्वर की कल्पना मत करो——सब कल्पनायें छोडकर देखो। जो समक्ष पाओगे वही ईश्वर है।

मैं नदी में स्नान करने को जाता हूं तो वस्त्र तट पर छोड देने होते हैं। परमात्मा में स्नान करने की जिसकी अभीप्सा है उसे भी अपने सारे वस्त्र तट पर ही छोड़ने होंगें——सारे वस्त्र, सारे ओढे हुये व्यक्तित्व। उस परम सागर में तो केवल वे ही प्रवेश पाते हैं जो कि बिल्कुल ही नग्न हैं—— जिसके पास छोड़ने को अब कुछ भी शेष नहीं रहा है। किन्तु, धन्य हैं वे जो सब छोड सकते हैं क्योंकि इस भांति वे वह पा लेते हैं जो कि सबके जोड़ से भी अधिक है।

शास्त्र और सिद्धांत तो सूखे पत्तों की भांति हैं। स्वानुभूति की हरियाली न उनमें है, न हो सकती है। हरे पत्ते और जीवित फूल तो स्वयं के जीवन-वृक्ष में ही लगते हैं।

मैं खोजता था तो मौन से बडा कोई शास्त्र नहीं पा सका। और सब शास्त्र खोजे तो पाया कि शास्त्र व्यर्थ हैं, और मौन ही सार्थक है।

कहां जा रहे हो? जिसे खोजते हो, वह दूर नहीं निकट है। और जो निकट है, उसे पाने को यदि यात्रा की तो उसके पास नहीं, उससे दूर ही निकल जाओगे। ठहरो और देखो। निकट को पाने के लिये ठहरकर देखना ही पर्याप्त है।

मुक्ति न तो प्रार्थना से पाई जाती है, न पूजा से, न धर्म सिद्धांतों में विश्वासों से। मुक्ति तो पाई जाती है अमूर्च्छित जीवन से। इसलिये मैं कहता हूं कि प्रत्येक विचार और प्रत्येक कर्म में अमूर्च्छित होना ही प्रार्थना है, पूजा है और साधना है।

उसे सोचो जिसे कि तुम सोच ही नहीं सकते हो और तुम सोचने के बाहर हो जाओगे। सोचने के बाहर हो जाना ही स्वयं में आ जाना है।

जीवन के विरोध में निर्वाण मत खोजो वरन् जीवन को ही निर्वाण बनाने में लग जाओ। जो जानते हैं, वे यही करते हैं। डो–जेन के प्यारे शब्द हैं: "मोक्ष के लिये कर्म मत करो, बल्कि समस्त कर्मों को ही मौका दो कि वे मुक्तिदायी बन जावें।" यह हो जाता है, ऐसा मैं अपने अनुभव से कहता हूं और जिस दिन यह संभव होता है उस दिन जीवन एक पूरे खिले हुये फूल की भांति सुन्दर हो जाता है और सुवास से भर जाता है।

क्या तुम ध्यान करना चाहते हो? तो ध्यान रखना कि ध्यान में न तो तुम्हारे सामने कुछ हो, न पीछे कुछ हो। अतीत को मिट जाने दो और भविष्य को भी। स्मृति और कल्पना——दोनों को शून्य होने दो। फिर न तो समय होगा और न आकाश ही होगा। उस क्षण जब कुछ भी नहीं होता है, तभी जानना कि तुम ध्यान में हो। महामृत्यु का यह क्षण ही नित्य जीवन का क्षण भी है।

ध्यान के लिये पूछते हो कि क्या करें? कुछ भी न करो—बस शांति से श्वांस-प्रश्वांस के प्रति जागो। होश पूर्वक श्वांस पथ को देखो। श्वांस के आने-जाने के साक्षी रहो। यह कोई श्रम–पूर्ण चेष्टा न हो वरन् शांत और शिथिल—— विश्रामपूर्ण बोध मात्र हो। और फिर तुम्हारे अनजाने ही, सहज

और स्वाभाविक रुप से, एक अत्यंत प्रसादपूर्ण स्थिति में तुम्हारा प्रवेश होगा। इसका भी पता नहीं चलेगा कि कब तुम प्रविष्ट हो गये हो। अचानक ही तुम अनुभव करोगे कि तुम वहां हो जहां कि कभी नहीं थे।

मैं, जो सीखा था, उसे भूला, तब उसे पा सका जो कि अकेला ही सीखने योग्य है लेकिन सीखा नहीं जा सकता है। क्या सत्य को पाने के लिये, सत्य के संबंध में जो सीखा है, उसे भूलने की तुम्हारी तैयारी है? यदि हां, तो आओ, सत्य के द्वार तुम्हारे लिये खुले हुये हैं।

सत्य जाना तो जा सकता है लेकिन न तो समझा जा सकता है और न समझाया ही जा सकता है।

सत्य आकाश की भांति है——अनादि और अनंत और असीम। क्या आकाश में प्रवेश का कोई द्वार है? तब सत्य में भी कैसे हो सकता है? पर यदि हमारी आंखें ही बंद हों तो आकाश नहीं है और ऐसा ही सत्य के संबंध में भी है। आंखों का खुला होना ही द्वार है और आंखों का बंद होना ही द्वार का बंद होना है।

समाधि में क्या जाना जाता है? कुछ भी नहीं। जहां तक जानने को कुछ भी शेष है, वहां तक समाधि नहीं है। समाधि सत्ता के साथ एकता है—जानने जितनी भी दूरी वहां नहीं है!

संसार में संसार के न होकर रहना सन्यास है। पर बहुत बार सन्यास का अर्थ उन तीन बंदरों की भांति लगा लिया जाता है जो कि बुरे दृश्यों से बचने के लिये आंख बंद किये हैं, और बुरी ध्वनियों से बचने के लिये कान और बुरी वाणी से बचने के लिये मुख। बंदरों के लिये तो यह क्षम्य है लेकिन मनुष्यों के लियें अत्यंत हास्यास्पद। भय के कारण संसार से पलायन मुक्ति नहीं वरन् एक अत्यंत सूक्ष्म और गहरा बंधन है। संसार से भागना नहीं, स्वयं के प्रति जागना है। भागने में भय है, जागने म अभय की उपलब्धि। ज्ञान से प्राप्त अभय के अतिरिक्त और कुछ भी मुक्त नहीं करता है।

क्या निर्वाण और मोक्ष को भी चाहा जा सकता है? निर्वाण को चाहने से अधिक असंभव बात और कोई नहीं है क्योंकि जहां कोई चाह नहीं है, वही निर्वाण है। चाह ही अमुक्ति है तो मोक्ष कैसे चाहा जा सकता है? किन्तु मोक्ष को चाहनेवाले व्यक्ति भी हैं और तब स्वाभाविक ही है कि उनका तथाकथित संन्यास भी बंधन का एक रूप हो और संसार का ही एक अंग। निर्वाण तो उस समय सहज ही, अनचाहा ही, अनपेक्षित ही उपलब्ध होता है,

जब कि चाह की व्यर्थता को उसके दुख स्वरुप और बंधन को उनके समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म रुपों में जान और पहचान लिया जाता है। चाह की व्यर्थ दौड के दर्शन होते ही वह दौड चली जाती है। उसका संपूर्ण ज्ञान ही उससे मुक्ति है। और तब जो शेष रह जाता है, वही निर्वाण है।

हम दुखी हैं। हमारा युग दुःखी है। कारण क्या है? कारण है कि हम जानते तो बहुत हैं, लेकिन अनुभव कुछ भी नहीं करते हैं। मनुष्य में मस्तिष्क ही मस्तिष्क रह गया है और हृदय विलीन हो गया है। जबकि वास्तविक ज्ञान मात्र जानने से नहीं वरन् अनुभव करने से प्राप्त होता है और वे आंखें जो कि जीवन पथ को आलोकित करती हैं मस्तिष्क की नहीं हृदय की होती हैं। हृदय अंधा हो तो जीवन में अंधकार बिल्कुल ही स्वाभाविक है।

बुद्धि में अर्थ हो सकता है, अनुभूति नहीं। अनुभूति तो प्राणों के प्राण हृदय में होती है। और अनुभूति शून्य अर्थ मृत होता है। ऐसे मृत अर्थ और शब्द ही हमारे मस्तिष्कों में गूंज रहे है और उनके बोझ से हम पीडित हैं। वे हमें मुक्त नहीं करते हैं, वरन् वे ही हमारे बंधन हैं। निर्भार और मुक्त होने के लिये तो हृदय की अनुभूति चाहिये। इसलिये मैं कहता हूं कि सत्य का अर्थ और सत्य की व्याख्या मत खोजो। खोजो सत्य की अनुभूति और जीवन। सत्य में डूबो और स्मरण रखो कि जो अशेष भाव से सत्य में डूबते हैं वे ही असत्य से उबर पाते हैं। बुद्धि ऊपर तैराती है लेकिन हृदय तो पूरा ही डुबा देता है। बुद्धि नहीं, हृदय ही मार्ग है।

सत्य के अनुभव और सत्य के सम्बन्ध में दिये गये वक्तव्यों में बहुत भेद है। वक्तव्य में हम वक्तव्य के बाहर होते हैं, लेकिन अनुभव में, अनुभव के भीतर और अनुभव से एक। इसीलिये जिन्हें अनुभव है, उन्हें वक्तव्य देना असंभव ही हो जाता है। वक्तव्य की संभावना अनुभव के अभाव की द्योतक है। लोग मुझसे पूछते हैं : 'सत्य क्या है?' मौन रह जाने के सिवाय मैं और क्या कह सकता हूं?

ज्ञान, रहस्य की समाप्ति नहीं है। वस्तुतः, ज्ञान के साथ ही रहस्य का संपूर्ण उद्घाटन होता है। और फिर तो सिर्फ रहस्य ही रहस्य रह जाता है। ज्ञान है, रहस्य का बोध, रहस्य की स्वीकृति, रहस्य से मिलन, रहस्य के साथ आनंदमग्न जीवन, रहस्य से, रहस्य में और रहस्य के द्वारा। जहां स्व तो मिट जाता है और मात्र रहस्य ही रह जाता है, जानना कि परमात्मा की पवित्र भूमि में प्रवेश हो गया है। और यह भी जानना कि स्व के मिट जाने से बडा

कोई रहस्य नहीं है, क्योंकि स्व तो मिट जाता है लेकिन साथ ही स्वयं की सत्ता अपनी परिपूर्ण गरिमा में प्रगट भी हो जाती है।

यह सत्य है कि मनुष्य अब पशु नहीं है लेकिन क्या यह भी सत्य है कि मनुष्य मनुष्य हो गया है? पशु होना अतीत की घटना हो गई है पर मनुष्य होना भी अभी भविष्य की संभावना है। शायद हम मध्य में हैं और यही हमारी पीड़ा है, यही हमारा तनाव है, यही हमारा संताप है। जो प्रयास करते हैं और स्वयं के इस पीड़ा अस्तित्व से असंतुष्ट होते हैं, वे ही मनुष्य हो पाते हैं। मनुष्यता मिली हुई नहीं है, उसे हमें स्वयं ही स्वयं में जन्म देना होता है। लेकिन मनुष्य होने के लिये यह अतिआवश्यक है कि हम पशु न होने को ही मनुष्य होना न समझ लें और जो हैं उससे तुष्ट न हो जावें। स्वयं से गहरा और तीव्र असंतोष ही विकास बनता है।

मैं तथाकथित शिक्षा से कितना पीड़ित हुआ हूं, कैसे बताऊं? सिखाया हुआ ज्ञान, विचार की शक्ति को तो नष्ट ही कर देता है। विचारों की भीड़ में विचार की शक्ति तो दब ही जाती है। स्मृति प्रशिक्षित हो जाती है और ज्ञान के स्रोत अपरिचित ही रह जाते हैं। फिर यह प्रशिक्षित स्मृति ही ज्ञान का भ्रम देने लगती है। इस तथाकथित शिक्षा में शिक्षित व्यक्ति को नये सिरे से ही विचार करना सीखना होता है। उसे फिर से अशिक्षित होना पड़ता है। यही मुझे भी करना पड़ा और यह कार्य अति कठिन था। वस्त्र उतारकर रखने जैसा नहीं, वरन् स्वयं की चमडी उतारकर रखने जैसी कठिनाई थी। पर यह जरुरी था। उसके बिना कोई राह ही नहीं थी। अपने ही ढंग से जीवन को देखने के लिये आवश्यक था कि जो मैं सीखा हूं और सिखाया गया है, उसे भूल जाऊं। अपनी ही दृष्टि पाने के लिये दूसरों की दृष्टियां विस्मृत करनी आवश्यक थीं। स्वयं के विचार को पाने के लिये औरों के विचार से मुक्त होना जरुरी है। जिसे अपने पैरों से चलना सीखना हो, उसे दूसरों के कंधे का सहारा छोड़ ही देना चाहिये। स्वयं की आंखें तभी खुलती हैं जब हम दूसरों की आंखों से देखना बंद कर देते हैं। और स्मरण रहे कि दूसरों की आंखों से देखनेवाला व्यक्ति अंधे व्यक्ति से भी ज्यादा अंधा होता है।

जीवन में जो भी गति है, जो भी विकास है, जो भी ऊंचाइयों का स्पर्श है वह सब दुस्साहस से आता है। दुस्साहस का अर्थ है असुरक्षा को आमंत्रण, अपरिचित और अज्ञात से प्रेम, जोखिम का आनंद। खतरे उठाने की और खतरों से प्रेम करने की जिसकी तैयारी नहीं है, वह जीता है लेकिन जीवन को

नहीं पाता है। और सबसे बडा दुस्साहस क्या है? परमात्मा की खोज सबसे बडा दुस्साहस है। क्योंकि, परमात्मा की दिशा से अधिक असुरक्षित और कौनसी दिशा है? क्योंकि, परमात्मा से अधिक अपरिचित, अज्ञात और अज्ञेय क्या है? क्योंकि परमात्मा की खोज से बडा दांव, जुआं और जोखिम कौनसा है? इससे मैं कहता हूं कि दुस्साहस सबसे बडा धार्मिक गुण है। जिसमें दुस्साहस नहीं है, वह धर्म के लिये नहीं है, धर्म उनके लिये नहीं है।

सत्यानुभूति न तो विचार है, नहीं भावना। वह तो समस्त प्राणों का तुम्हारी समस्त सत्ता का आन्दोलित और स्पंदित हो उठना है। वह तुममें नहीं होती, वरन् तुम ही उसमें होते हो। वह तो तुम्हारा स्वरूप है। वह अनुभव ही नहीं, स्वयं तुम ही हो। और मात्र तुम ही नहीं हो, तुमसे भी ज्यादा वह है क्योंकि उसमें सर्व की सत्ता भी समाहित है।

क्या तुम इतने दरिद्र हो कि धर्म भी तुम्हारे पास नहीं? धन की दरिद्रता बहुत बडी बात नहीं है। असली दरिद्रता तो धर्म की दरिद्रता है। धन रहते भी लोग दरिद्र बने रहते हैं लेकिन जिसके पास धर्म की संपदा होती है, उसकी दरिद्रता सदा सदा के लिये नष्ट हो जाती है। मनुष्य के जीवन में—पूरी मनुष्यता के जीवन में भी सबसे बडी घटना उसकी आधिभौतिक सफलतायें या साम्राज्यों का निर्माण नहीं है, बल्कि उस संपदा की खोज और उपलब्धि है जो कि उसके ही भीतर छिपी है। उस संपदा को ही मैं धर्म कहता हूं। जो संपदा बाहर है, वह धन है और जो संपदा भीतर है वह धर्म है। धन को चुननेवाले अंततः दरिद्रता को, और धर्म को चुननेवाले अंततः वास्तविक धन को चुननेवाले सिद्ध होते हैं।

एक घर में गया था। वहां वीणा रखी थी। मैंने कहा: मनुष्य का मन भी वीणा की भांति है। वह तो साधन है। उससे संगीत और विसंगीत दोनों ही पैदा हो सकते हैं। और जो भी हम उससे पैदा करेंगे, उसकी जिम्मेदारी हमारे अतिरिक्त और किसी पर नहीं होगी। अपने मन को संगीत का साधन बनायें और सत्य का। उसे स्वतंत्र रखें और सच्चा। और अहंकार से मुक्त रखें क्योंकि अहंकार से अधिक विसंगीत पैदा करनेवाला और कोई तत्त्व नहीं है। सत्य के निकट वही पहुंचता है जो स्वयं के भीतर संगीतपूर्ण होता है। मात्र बुद्धिमान नहीं, बल्कि समग्र रुपेण जितना व्यक्तित्व संगीतपूर्ण है, वे ही सत्य के सर्वाधिक निकट पहुंचते हैं।

मैं तुम्हें मंत्रों को दुहराते देखता हूं, कंठस्थ शब्दों और शास्त्रों की पुनरुक्ति करते देखता हूं तो मेरा हृदय दया और सहानुभूति से भर जाता है। यह तुम क्या कर रहे हो? क्या अपने को भुलाने और विस्मरण करने और आत्मसम्मोहन के द्वारा निद्रा में जाने को ही तुमने धर्म और साधना समझी लिया है? निश्चय ही मंत्रों का उच्चार और शब्दों का जप चित्त को सुखद निद्रा में सुलाने में समर्थ है लेकिन निद्रा को समाधि मत समझ लेना। मित्र, सुषुप्ति और समाधि में बहुत भेद है। आत्म सम्मोहन जनित सुषुप्ति में अनुभव भी घटित होते हैं लेकिन वे सब स्वप्नों से ज्यादा नहीं हैं और उन्हें हमारा मन ही प्रक्षिप्त करता है। फिर ये स्वप्न चाहे कितने ही सुखद और संतुष्टदायी हों, सुख और संतोष के कारण वे सत्य नहीं हो जाते हैं। पर साधारणतः हम सत्य को नहीं, संतोष को ही खोजते हैं और इसलिये किसी भी भ्रम में हमारा उलझ जाना बहुत आसान है। संतोष को खोजनेवाला मन किसी भी रुप से पैदा हुई मादकता से तृप्त हो सकता है—किसी भी भांति का आत्मविस्मरण उसे तृप्ति दे सकता है। और तथाकथित मंत्र जप और एकाग्रताओं के द्वारा आत्मविस्मरण संभव हो जाता है। किसी भी भांति की सतत् पुनरुक्ति चेतना को मूर्च्छित करती है। जबकि धर्म का संबंध मूर्च्छा से नहीं, अमूर्च्छा से है, आत्म-विस्मरण से नहीं, परिपूर्ण आत्म-स्मरण और जागरण से है।

अहंकार के अतिरिक्त और कोई नर्क नहीं है। कहा गया है कि नर्क में अहंकार ही जलता है। अहंकार को दूर करो तो फिर कोई नर्क नहीं है।

मैं तुम्हारे लिये सत्य की यात्रा नहीं कर सकता हूं। न ही कोई दूसरा ही कर सकता है। वह यात्रा तो तुम्हें स्वयं ही करनी होगी। इसे ठीक से जान लो, अन्यथा जीवन का बहुत सा समय व्यर्थ ही व्यय हो जाता है। जीवन के अंधकारपूर्ण पथ पर स्वयं के प्रज्वलित बोध के अतिरिक्त और कोई प्रकाश नहीं है। तुम ही तुम्हारे लिये अंधकार हो और तुम ही तुम्हारे लिये प्रकाश हो सकते हो। कोई दूसरा तुम्हारे लिये अंधकार नहीं है, और इसलिये कोई दूसरा प्रकाश कैसे हो सकता है।

आचार्य श्री रजनीश

ज्ञान के मार्ग म विश्वास की वृत्ति सबसे बडा अवरोध है। विचार की मुक्ति में विश्वास की ही अड़चन है। विश्वास की जंजीरें ही स्वयं की विचार-शक्ति को जीवन की यात्रा नहीं करने देती, और उनमें रुका व्यक्ति पानी के घिरे डबरों की भांति हो जाता है। फिर वह सड़ता है और नष्ट हो जाता है, लेकिन सागर की ओर दौड़ना उसे संभव नहीं रह जाता। बंधो नहीं—स्वयं को बांधो नहीं, खोजो—खोजने में ही सत्य जीवन की प्राप्ति है।

प्रवचनों से

आनंद की दिशा

यह क्या हो गया है?——मनुष्य को यह क्या हो गया है? मैं आश्चर्य में हूं कि इतनी आत्मविपन्नता, इतनी अर्थहीनता और इतनी घनी ऊब के बावजूद भी हम कैसे जी रहे हैं?

मैं मनुष्य की आत्मा को खोजता हूं तो केवल अंधकार ही हाथ आता है और, मनुष्य के जीवन में झांकता हूं तो सिवाय मृत्यु के और कुछ भी दिखाई नहीं पडता है।

जीवन है, लेकिन जीने का भाव नहीं। जीवन है, लेकिन एक बोझ की भांति। वह सौंदर्य, समृद्धि और शांति नहीं है। और आनंद न हो, आलोक न हो तो निश्चय ही जीवन नाम मात्र को ही जीवन रह जाता है।

क्या हम जीवन को जीना ही तो नहीं भूल गये हैं?

पशु और पक्षी और पौधे भी हमसे ज्यादा सघनता और समृद्धि और संगीत में जीते हुये मालूम होते हैं। लेकिन शायद कोई कहे कि मनुष्य की समृद्धि

तो दिन दूनी रात चौगुनी बढती जा रही है, फिर भी आप यह क्या कह रहे हैं? उत्तर में, मैं कहूंगा: "परमात्मा मनुष्य को उसकी तथाकथित समृद्धि से बचाये। वह समृद्धि नहीं, बस केवल दरिद्रता और दीनता को भुलाने का उपाय है। यह समृद्धि और शक्ति और प्राप्ति सब स्वयं से पलायन है"।

मैं, समृद्धि के वस्त्रों को उतारकर, जब मनुष्य को देखता हूं तो उसकी आंतरिक दरिद्रता को देखकर हृदय बहुत विषाद से भर जाता है। क्या इस दरिद्रता को छिपाने और विस्मरण करने को ही हम समृद्धि को नहीं ओढे हुये हैं?

जो थोडा सा भी विचार करेगा, वह सहज ही इस सत्य से परिचित हो जायेगा। आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति पद को खोजते हैं, और आत्मदरिद्रता से ग्रसित धन और संपदा को। भीतर जो है उससे पलायन करने को उसके विपरीत ही हम बाहर स्वयं को निर्मित करने लगते हैं। अहंकारी विनीत बन जाते हैं और अतिकामी ब्रह्मचर्य और साधुता में स्वयं को भुला लेना चाहते हैं।

मनुष्य जो भीतर होता है, साधारणतः ठीक उसके विपरीत ही, वह बाहर स्वयं को प्रगट करता है। इसलिये ही दरिद्र संपदा को खोजते हैं और जो संपदाशाली हैं, वे दरिद्रता को वरण कर लेते हैं! क्या आपने दरिद्रों को सम्राट बने और सम्राटों को दरिद्र होते नहीं देखा है?

इसलिये यह न कहे कि मनुष्य की समृद्धि बढ गई है—वस्तुओं की समृद्धि तो बढी है पर मनुष्य समृद्ध नहीं, और भी दरिद्र हो गया है: और स्मरण रहे कि बाह्य समृद्धि को बढाने की पागल दौड में वह निरंतर और भी दरिद्र ही होता जावेगा। क्योंकि, इस दौड में वह यह भूलता ही जा रहा है कि एक और प्रकार की समृद्धि भी है, जो कि बाहर नहीं, स्वयं के भीतर ही उपलब्ध की जाती है। वस्तुओं का बढता जाना ही एकमात्र विकास नहीं है—एक और विकास भी है जिसमें कि स्वयं मनुष्य भी बढता है। और निश्चय ही वही विकास वास्तविक है जिसमें कि मानवीय चेतना ऊर्ध्वगमन करती है और प्रगाढता सौंदर्य, संगीत और सत्य को उपलब्ध होती है।

मैं आपसे ही पूछना चाहता हूं कि क्या आप वस्तुओं के संग्रह से ही संतुष्ट होना चाहते हैं, या कि चेतना के विकास की भी प्यास आपके भीतर है?

जो मात्र वस्तुओं में ही संतुष्टि सोचता है वह अंततः असंतोष के और कुछ भी नहीं पाता है, क्योंकि वस्तुयें तो केवल सुविधा ही दे सकतीं हैं, और निश्चय ही सुविधा और संतोष में बहुत भेद है। सुविधा कष्ट का अभाव है। संतोष आनंद की उपलब्धि है।

आपका हृदय क्या चाहता है? आपके प्राणों की प्यास क्या है? आपकी श्वांसों की तलाश क्या है? और क्या कभी आपने अपने आपसे ये प्रश्न पूछे हैं? यदि नहीं, तो मुझे पूछने दें। यदि आप मुझसे पूछें तो मैं कहूंगा: "उसे पाना चाहता हूं जिसे पाकर फिर कुछ और पाने को नहीं रह जाता है।" क्या मेरा ही उत्तर आपकी अंतरात्माओं में भी नहीं उठता है?

यह मैं आपसे ही नहीं पूछ रहा हूं। और भी हजारों लोगों से पूछता हूं। और पाता हूं कि सभी मानव हृदय समान हैं और उनकी आत्यंतिक चाह भी समान ही है।

आत्मा आनंद चाहती है—पूर्ण आनंद, क्योंकि तभी सभी चाहों का विश्राम आ सकता है। जहां चाह है, वहां दुख है क्योंकि वहां अभाव है।

आत्मा सब अभावों का अभाव चाहती है। अभाव का पूर्ण अभाव ही आनंद है और वही स्वतंत्रता भी है—मुक्ति भी, क्योंकि जहां कोई भी अभाव है वहीं बंधन है और सीमा है और परतंत्रता है। अभाव जहां नहीं हैं, वहीं परममुक्ति में प्रवेश है।

आनंद मोक्ष है और मुक्ति आनंद है। और निश्चय ही जो परम आकांक्षा है, वह बीजरूप में प्रत्येक में प्रसुप्त होनी ही चाहिये। क्योंकि, जिस बीज में वृक्ष न छिपा हो, उसमें अंकुर भी नहीं आ सकता है। हमारी जो चरम कामना है, वही हमारा आत्यंतिक स्वरूप भी है। क्योंकि स्वरूप ही अपने पूर्ण विकास में आनंद और स्वतंत्रता में परिणत हो सकता है। स्वरूप ही सत्य है और उसकी पूर्ण उपलब्धि ही संतोष बनती है।

स्वरूप की संपदा को जो नहीं खोजता है, वह विपदाओं को ही संपदायें समझता रहता है। निश्चय ही—बाहर की कोई भी उपलब्धि अभावों का अभाव नहीं ला सकती है, क्योंकि बाहर की कोई भी संपत्ति भीतर के अभाव को कैसे भर सकेगी? अभाव आंतरिक है, तो बाहर की किसी भी विजय से उसका भराव नहीं होता है। इसलिये बाहर सब पाकर भी कुछ भी पाया सा प्रतीत नहीं होता है, और बाहर सब होकर भी व्यक्ति भीतर रिक्त ही बना रहता है।

बुद्ध ने कहा है: "तृष्णा दुष्पूर है।"

कैसा आश्चर्य है कि चाहे हम कुछ भी पा लें, फिर भी जो पाने को प्रतीत होता है, वह उतना ही रहता है जितना कि पाने के पूर्व था। इसलिये ही सम्राटों और भिखारियों का अभाव समान ही होता है। उस तल पर उनमें कोई भी भेद नहीं है।

फिर, बाह्य संगीत की दिशा में जो मिला हुआ भी मालुम होता है, उसकी भी कोई सुरक्षा नहीं है, क्योंकि किसी भी क्षण वह छिन सकता या

नष्ट हो सकता है। अंततः मृत्यु तो उसे छीन ही लेती है। और जो छीना जा सकता है, उसे हमारे अंर्तदहृय कभी भी अपना न मान पाते हों तो आश्चर्य ही क्या? इसलिये ही संपत्ति सुरक्षा नहीं देती है। हालांकि हम उसे सुरक्षा के लिये ही खोजते हैं! उल्टे हमें ही उसकी सुरक्षा करनी होती है!

.....यह ठीक से समझ लें की बाह्य संपत्ति, सुविधाओं और शक्तियों से न अभाव मिटता है, न असुरक्षा मिटती है, न भय मिटता है।उनके मिथ्या आश्वासन में ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति उन्हें भूला भर रह सकता है। इसलिये ही संपत्ति को मद कहा है। उसकी मादकता में जीवन की वास्तविक स्थिति के दर्शन नहीं हो पाते हैं। और अभाव का इस भांति विस्मरण अभाव से ही बुरा है क्योंकि उसके कारण अभाव को मिटाने की वास्तविक दिशा में दृष्टि नहीं उठ पाती है।

जीवन में जो अभाव है, वह किसी वस्तु, शक्ति या संपदा के न होने के कारण नहीं है, क्योंकि उस सबके मिल जाने पर भी उसे मिटते नहीं देखा जाता है। जिनके पास सब कुछ है, क्या उनकी दरिद्रता से आप परिचित नहीं है? आपके पास जो कुछ है क्या उससे जरा भी आपकी दरिद्रता और दीनता मिटी है?

मित्र, संपति में और संपत्ति के होने के भ्रम में बहुत भेद है। बाहर की संपत्ति, शक्ति, सुरक्षा—सभी उस वास्तविक संपति की छायाएं भर हैं जो कि भीतर है।

अभावों का मूल कारण बाहर की किसी उपलब्धि का होना नहीं, वरन् स्वयं की दृष्टि का बाहर होना है। इसीलिये जो अभाव कुछ भी पाकर नहीं मिटते हैं, वे ही दृष्टि के भीतर मुड़ने पर पाये ही नहीं जाते हैं।

आत्मा का स्वरूप ही आनंद है, वह उसका कोई गुण नहीं, वरन् उसका स्वरूप ही है। आत्मा का आनंद से कोई संबंध नहीं है, वस्तुतः आत्मा ही आनंद है। वे दोनों एक ही सत्य के नाम हैं। सत्ता की दृष्टि से जो आत्मा है, अनुभूति की दृष्टि से वही आनंद है।

लेकिन, उस आनंद को आत्मा मत समझ लेना जिसे साधारणतः 'आनंद' कहा जाता है। वह 'आनंद' आनंद नहीं है, क्योंकि आनंद के मिलते ही फिर आनंद की सब खोज बंद हो जाती है। जिसके मिलने से खोज और बढती है, जिसके पाने से तृष्णा और प्रबल होती है, जिसे पाकर जिसके खोने का भय पीड़ित करता है, जानना कि वह आनंद का मिथ्या आभास है, आनंद नहीं। निश्चय ही वह जल, जल नहीं है, जिस सें प्यास और भी बढ जाती हो! क्राइस्ट का वचन है: 'आओ, मैं उस कुए का पानी तुम्हें दूं, जिसे पीने से प्यास सदा को मिट जाती है।"

हम सुख को ही आनंद समझ लेते हैं जब कि सुख आनंद का आभास मात्र है, छाया और परछाई है। इस आभास और इस भ्रम में ही अधिक लोग जीवन को गवां देते हैं और अंततः अतृप्ति और असंतोष के और कुछ भी उन्हें हाथ नहीं लगता है। निश्चय ही यदि कोई मनुष्य झील के पानी में चांद के प्रतिबिंब को देख उसे खोजने को निकल पड़े तो अंततः वह क्या पा सकेगा? वस्तुतः तो उसकी खोज उसे जितना ज्यादा झील की गहराई में डुबायेगी उतना ही ज्यादा वह वास्तविक चांद से दूर निकलता जायेगा। सुख की खोज में ऐसे ही व्यक्ति आनंद से दूर निकल जाते है। सुख को खोजते खोजते जो मिलता है, वह सुख नहीं, दुख ही होता है। क्या जो मैं कह रहा हूं उसकी सच्चाई आपको दिखाई नहीं पडती है? क्या आपका स्वयं का जीवन अनुभव इस सत्य की गवाही नहीं है कि सुख की खोज अंततः दुख के तट पर ले आती है? यही स्वाभाविक भी है क्योंकि कोई भी परछाई या प्रतिबिंब केवल अपने बाह्य रूप में ही भूल के समान होता है, वस्तुतः नहीं, वस्तुतः तो जो उसमें दिखाई पडता है, उससे बिल्कुल भिन्न ही उसमें पाया जाता है।प्रत्येक सुख, आनंद का आश्वासन और आकर्षण देता है क्योंकि वह आनंद की छाया है लेकिन उसके पीछे जाने पर कुछ भी नहीं मिलता है, सिवाय असफलता, विषाद और दुख के। क्योंकि आपकी छाया को पकड़कर भी मैं आपको कैसे पा सकता हूं? और फिर यदि आपकी छाया को पकड़ भी लूं तो भी मेरी मुट्ठी में क्या कुछ हो सकता है?

यह भी स्मरण दिला दूं कि प्रतिबिंब सदा ही विरोधी दिशा में बनतें हैं। मैं एक दर्पण के सामने खड़ा हो जाऊं तो दर्पण में जहां मैं दिखाई पड रहा हूं वह ठीक उस जगह से विपरीत है जहां कि मैं हूं। ऐसा ही सुख भी है। वह अपने में मूलतः दुख है क्योंकि वह आनंद का प्रतिबिम्ब है : आनंद तो भीतर है। इसीलिये, सुख बाहर मालूम होता है! आनंद आनंद है, इसीलिये सुख वस्तुतः दुख है!

मैं जो कह रहा हूं उसे, किसी भी सुख का पीछा करो और जानलो। प्रत्येक सुख अनिवार्यतः अंत में दुख में परिणत हो जाता है और जो अंत में जैसा है ,वह वस्तुतः आरंभ में ही वैसा होता है। हमारे पास आंखें गहरी नहीं होती हैं, इसीलिये जिसके दर्शन प्रारंभ में होने थे, उनके दर्शन अंत में हो पाते हैं। यह असंभव है कि जो अंत में प्रगट हो, वह आरंभ से ही उपस्थित न रहा हो। अंत तो आरंभ का ही विकास है। आरंभ में जो अप्रगट था, वही – अंत में प्रगट हो जाता है। पर न केवल हमारी आंखें उथला देखती हैं वरन् अधिकांशतः तो वे देखती ही नहीं हैं। क्योंकि, हम अक्सर उन्हीं रास्तों पर

बार बार चले जाते हैं, जिन पर बहुत बार पूर्व में जाकर भी दुख, पीड़ा और अवसाद को झेल चुके होते हैं। जहां दुख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाया, उसी ओर फिर फिर जाते हैं। क्यों? क्योंकि शायद उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग हमें दिखाई हो नहीं पडता है। इसलिये ही मैंने कहा कि हम न केवल घबला और उथला देखते हैं, हम देखते ही नहीं हैं, बहुत कम लोग हैं जो जीवन में आंखों का उपयोग करते हों। आंखें सबके पास है लेकिन आंखों के होते हुये भी अधिकांश अंधे बने रहते हैं. जिसने स्वयं के भीतर नहीं देखा है, उसने अभी अपने आंखों का उपयोग ही नहीं किया है। केवल वही कह सकता है देखता कि 'मैं आंख वाला "हूं," जिसने स्वयं को देखा है क्योंकि जो स्वयं को ही नहीं है, वह और क्या देखेगा? मित्र, आंखों की शुरुआत वस्यं को देखने से होती है और जो स्वयं को देखता है, दूसरे देखते हैं कि उसके चरण सुखकी दिशा में नहीं जा रहे हैं। वह व्यक्ति आनंद की दिशा में चलना प्रारंभ कर देता है। सुख की दिशा स्वयं से संसार की ओर है। आनंद की दिशा संसार से स्वयं की ओर है।

जीवन संपदा का अधिकार

१: मैं क्या देखता हूं ? देखता हूं कि मनुष्य सोया हुआ है। आप सोये हुये हैं। प्रत्येक सोया हुआ है। रात्रियें ही नहीं, दिवस भी निद्रा में ही बीत रहे हैं। निद्रा तो निद्रा है ही, किन्तु यह तथाकथित जागरण भी निद्रा ही है। आखों के खुल जाने मात्र से नींद नहीं टूटती। उसके लिये तो अंतस् का खुलना आवश्यक है। वास्तविक जागरण का द्वार अंतस् है। जिसका अंतस् सोया हो, वह जागकर भी जागा हुआ नहीं होता, और जिसका अंतस् जागता है वह सोकर भी सोता नहीं है।

२: जीवन जागरण में है। निद्रा तो मृत्यु का ही रुप है। जाग्रति का दिया ही हृदय को आलोक से भरता है: निद्रा तो अंधकार है और अंधकार में होना, दुख में ,पीडा में, संताप में होना है। स्वयं से पूछें कि आप कहां हैं? क्या हैं? यदि संताप में हैं, भय में हैं, दुख और पीड़ा में हैं तो जानें कि अंधकार में हैं—जानें कि निद्रा में हैं। इसके पूर्व कि कोई जागने की दिशा में चले यह जानना आवश्यक है कि वह निद्रा में है। जो यही नहीं जानता, वह जाग भी नहीं सकता है। क्या कारागृह से मुक्त होने की आकांक्षा के जन्म के लिये स्वयं के कारागृह में होने का बोध जरूरी नहीं है?

३: मैं प्रत्येक से प्रार्थना करता हूं कि वह भीतर झांके। अपने मन के कुए में देखें, क्या वहां से आंखें हटाने की वृत्ति होती है? क्या वहां से भागने का विचार आता है? निश्चय ही यदि वहां से पलायन का खयाल उठता हो तो

जानना कि वहां अंधकार इकट्ठा है। आंखें अंधकार से हटना चाहती हैं और आलोक की ओर उठना चाहती हैं।

४: प्रतिदिन नये नये मनुष्यों को जानने का मुझे मौका मिलता है। हजारों लोगों को अध्ययन करने का अवसर मिला है। एक बात उन सबमें समान है। वह है दुख, सभी दुखी हैं। सभी पीडा में डूबे दिखाई देते हैं। एक घना संताप है, चिन्ता है, जिसमें कि वे सब जकडे हुये हैं। इससे वे बेचैन हैं और तड़फड़ा रहे हैं। स्वांस तक लेना कठिन हो रहा है। आसपास दुख ही दिखाई देता है, हवाओं का—जीवनदायी हवाओं का—तो कोई पता ही नहीं है। क्या ऐसी ही स्थिति आपकी है? क्या आप भी अपने भीतर घबड़ा देने वाली घुटन का अनुभव नहीं करते हैं? क्या आपकी गर्दन को भी चिंतायें नहीं दबा रही हैं और क्या आपके रक्त में भी उनका विष प्रवेश नहीं कर गया है?

५: अर्थहीनता घर किये हुये हैं। ऊब से सब दबे हैं और टूट रहे हैं। क्या यही जीवन हैं? क्या आप इससे ही तृप्त और संतुष्ट हैं? यदि यही जीवन है तो फिर मृत्यु क्या होगी?, मित्र! यह जीवन नहीं है। वस्तुतः यही मृत्यु है, और जीवन से हम परिचित नहीं हैं। जीवन सर्वथा भिन्न अनुभव है। जानकर ही यह मैं कह रहा हूं। कभी इस तथाकथित जीवन को ही जीवन मानने की भूल मैंने भी की थी। वह भूल स्वाभाविक है। जब और किसी भाँति के जीवन को व्यक्ति जानता ही नहीं, तो जो उपलब्ध होता है, उसे ही जीवन मान लेता है। यह मानना भी सचेतन नहीं होता। सचेतन होते ही तो मानना कठिन हो जाता है। वस्तुतः अविचार में ही—अबोध में ही—वैसी भूल होती है। स्वयं के प्रति थोड़ा सा भी विचार उस भूल को तोड़ देता है। जो उपलब्ध है, उसे स्वीकार नहीं, विचार करें। स्वीकार अचेतन है। वह अंधविश्वास है। विचार सचेतन है। उसके द्वारा ही भ्रम भंग होना प्रारंभ होता है।

६: विचार विश्वास से बिल्कुल विरोधी घटना है। विश्वास अचेतन है। उससे जो चलता है वह मात्र जीता ही है। जीवन को उपलब्ध नहीं होता। जीवन को उपलब्ध करने के लिये विश्वास की नहीं, विचार और विवेक की दिशा पकडनी होती है। विश्वास यानी मानना। विचार यानी खोजना। जानने के लिये मानना घातक है। खोज के लिये विश्वास बाधा है। जो मान लेते हैं, वे जानने की दिशा में चलते ही नहीं। चलने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। जानने का काम जानना ही कर देता है। इस भांति कागज के फूल ही असली फूलों का धोखा दे देते हैं। और झूठे काल्पनिक पानी से ही अपनी प्यास के बुझने को मान लिया जाता है।

७: ज्ञान के मार्ग में विश्वास की वृत्ति सबसे बडा अवरोध है। विचार की मुक्ति में विश्वास की ही अड़चन है। विश्वास की जंजीरें ही स्वयं की विचार शक्ति को जीवन की यात्रा नहीं करने देती और उनमें रुका व्यक्ति पानी के घिरे डबरों की भांति हो जाता है। फिर वह सड़ता है और नष्ट होता है, लेकिन सागर की और दौड़ना उसे संभव नहीं रह जाता। बंधो नहीं—स्वयं को बांधो नहीं। खोजो—खोजने में ही सत्य जीवन की प्राप्ति है।

८: जीवन जैसा मिला है, उस पर विश्वास मत कर लेना—उससे संतुष्ट मत हो जाना। वह जीवन नहीं, बल्कि जीवन के विकास और अनुभव की एक संभावना मात्र ही है। एक कहानी मैंने सुनी है। किसी वृद्ध व्यक्तिने अपने दो पुत्रों की परीक्षा लेनी चाहीं, मरने के पूर्व वह अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी चुनना चाहता था। उसने गेहूं के कुछ बीज दोनों को दिये और कहा कि मैं अनिश्चित समय के लिये तीर्थयात्रा पर जा रहा हूं, तुम इन बीजों को सम्हाल कर रखना। पहले पुत्र ने उन्हें जमीन में गाडकर रख दिया। दूसरे ने उनकी खेती की और उन्हें बढाया। कुछ वर्षों बाद जब वृद्ध लौटा तो पहले के बीज सड़कर नष्ट हो गये थे और दूसरे ने उन्हें हजारो गुना बढाकर संपदा में परिणत कर लिया था। यही स्थिति जीवन की भी है। जो जीवन हमें मिला है, वह बीजों की भांति है। उससे ही तृप्त नहीं हो जाना है। बीज तो संभावनायें हैं। उन्हें जो वास्तविकताओं में परिवर्तित कर लेता है, वहीं उनमें छिपी संपदा का मालिक होता है।

९: हम सब अवसर हैं। जो हैं, वहीं नहीं रुक रहना हैं। वस्तुतः जो हो सकते हैं, वहां तक पहुंचना है। वहीं पहुंचना हमारा वास्तविक होना भी है। फूलों को कभी देखा है? कभी उनके आनंद को, कभी उनकी अभिव्यक्ति को विचारा है? सुबह हम फूलों की एक सुंदर बगिया में थे। जो मित्र साथ थे, उनसे मैंने कहा:"फूल सुन्दर है, स्वस्थ हैं और सुवास से भरे हैं क्योंकि वे जो हो सकते थे, वही हो गये हैं। उन्होंने अपनी विकास की पूर्णता को पा लिया है। जब तक मनुष्य भी ऐसा ही न हो जाये तब तक उसका जीवन भी सुवास से नहीं भरता है।"

मांगो और मिलेगा

मैं यह क्या देख रहा हूं? यह कैसी निराशा तुम्हारी आंखों में है? और क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जब आंखें निराश होती हैं, तब हृदय की वह अग्नि

बुझ जाती है और वे सारी अभीप्सायें सो जाती हैं, जिनके कारण कि मनुष्य मनुष्य है!

निराशा पाप है क्योंकि जीवन उसकी धारा में निश्चय ही उर्ध्वगमन खो देता है।

निराशा पाप ही नहीं, आत्मघात भी है क्योंकि जो श्रेष्ठतर जीवन को पाने में संलग्न नहीं है, उसके चरण अनायास ही मृत्यु की ओर बढे जाते हैं।

यह शाश्वत नियम है कि जो ऊपर नहीं उठता, वह नीचे गिर जाता है, और जो आगे नहीं बढता, वह पीछे ढकेल दिया जाता है।

मैं जब किसी को पतन में जाते देखता हूं तो जानता हूं कि उसने पर्वत शिखरों की ओर उठना बंद कर दिया होगा। पतन की प्रक्रिया विधेयात्मक नहीं है। घाटियों में जाना, पर्वतों पर न जाने का ही दूसरा पहलू है। वह उसकी ही निषेध छाया है।

और जब तुम्हारी आंखों में, मैं निराशा देखता हूं तो स्वाभाविक ही है कि मेरा हृदय प्रेम, पीड़ा और करुणा से भर जावे, क्योंकि निराशा मृत्यु की घाटियों में उतरने का प्रारंभ है।

आशा सूर्यमुखी के फूलों की भांति सूर्य की ओर देखती है, और निराशा?—अंधकार से एक हो जाती है। जो निराश हो जाता है, वह अपनी अंतर्निहित विराट शक्ति के प्रति सो जाता है, और उसे विस्मृत कर देता है जो कि वह है, और जो कि वह हो सकता है।

बीज जैसे भूल जावे कि उसे क्या होना है और मिट्टी के साथ ही एक होकर पड़ा रह जावे, ऐसा ही वह मनुष्य है जो कि निराशा में डूब जाता है।

और, आज तो सभी निराशा में डूबे हुये हैं!

नीत्से ने कहा है: 'परमात्मा मर गया है (**God is dead**) यह समाचार उतना दुखद नहीं है जितना कि आशा का मर जाना, क्योंकि आशा हो तो परमात्मा को पा लेना कठिन नहीं है और यदि आशा न हो तो परमात्मा के होने सें भी कोई भेद नहीं पड़ता। आशा का आकर्षण ही मनुष्य को अज्ञात की यात्रा पर ले जाता है। और आशा ही प्रेरणा है जो कि उसकी सोई शक्तियों को जगाती है और उसकी निष्क्रिय चेतना को सक्रिय करती है।

क्या मैं कहूं कि आशाकी भावदशा ही आस्तिकता है?

और यह भी, कि आशा ही समस्त जीवन आरोहण का मूल उत्स और प्राण है?

पर आशा कहां है? मैं तुम्हारे प्राणों में खोजता हूं तो वहां तो निराशा की राख के सिवाय और कुछ भी नहीं मिलता? और आशाके अंगारे न हों तो तुम जीओगे कैसे? निश्चय ही तुम्हारा यह जीवन इतना बुझा हुआ है कि मैं इसे जीवन भी कहने में असमर्थ हूं!

मित्र, मुझे आज्ञा दो कि मैं कहूं कि तुम मर गये हो! असल में तुम कभी जिये ही नहीं, तुम्हारा जन्म तो जरूर हुआ था लेकिन वह जीवन तक नहीं पहुंच सका! जन्म ही जीवन नहीं है। जन्म मिलता है। जीवन पाना होता है। इसलिये जन्म मृत्यु में छीन भी लिया जाता है। लेकिन जीवन को कोई भी मृत्यु नहीं छीन पाती है। जीवन जन्म नहीं है और इसलिये जीवन मृत्यु भी नहीं है।

जीवन जन्म के भी पूर्व है और मृत्यु के भी अतीत है। और जो उसे जानता है, वहीं केवल भयों और दुखों के ऊपर उठ पाता है।

किन्तु, जो निराशा से घिरे हैं, वे उसे कैसे जानेंगे? वे तो जन्म और मृत्यु के बीच के तनाव में ही समाप्त हो जाते हैं!

जीवन एक संभावना है और उसे सत्य में परिणत करने के लिये साधना चाहिय। निराशा में साधना का जन्म नहीं होता क्योंकि निराशा तो बांझ है और उसमें कभी भी, किसी का जन्म नहीं होता है। इसीलिये मैंने कहा कि निराशा आत्मघाती है क्योंकि उससे किसी भी भांति की सृजनात्मक शक्ति का अविर्भाव नहीं होता है।

मैं कहता हूं: उठो और निराशा को फेंक दो। उसे तुम अपने ही हाथों से ओढे बैठे हो। उसे फेंकने के लिये और कुछ भी नहीं करना है सिवाय इसके कि तुम उसे फेंकने को राजी हो जाओ। आह! तुम्हारे अतिरिक्त और कोई उसके लिये जिम्मेदार नहीं है।

मनुष्य जैसा भाव करता है, वैसा ही हो जाता है। उसके ही भाव उसका सृजन करते हैं। वही अपना भाग्य विधाता है।

विचार—विचार—विचार, और उनका सतत आवर्तन ही अंततः वस्तुओं और स्थितियों में घनीभूत हो जाता है।

स्मरण रहे कि तुम जो भी हो वह तुमने ही अनंत बार चाहा है, विचारा है और उसकी भावना की है। देखो— स्मृति में खोजो तो निश्चय ही जो मैं कह रहा हूं उस सत्य के तुम्हें दर्शन होंगे। और जब यह सत्य तुम्हें दीखेगा तो तुम स्वयं के आत्म परिवर्तन की कुंजी को पा जाओगे, फिर अपने ही द्वारा ओढे भावों और विचारों को उतारकर अलग कर देना कठिन नहीं होता है। वस्त्रों को उतारने

में भी जितनी कठिनता होती है उतनी भी उन्हें उतारने मेंनहीं होती है, क्योंकि वे तो हैं भी नहीं—सिवाय तुम्हारे खयाल के उनकी कहीं भी कोई सत्ता नहीं है।

हम अपने ही भावों में अपने ही हाथों से कैद हो जाते हैं, अन्यथा, वह जो हमारे भीतर है, सदा—सदैव ही स्वतंत्र है।

और, क्या निराशा से बडी और कोई कैद है? नहीं। क्योंकि पत्थरों की दीवारें जो नहीं कर सकती, वह निराशा करती हैं। दीवारों को तोड़ना संभव है लेकिन निराशा तो मुक्त होने की आकांक्षा को ही खो देती है।

और, निराशा से मजबूत जंजीरें भी नही है, क्योंकि लोहे की जंजीरें तो मात्र शरीर को ही बांधती हैं, निराशा तो आत्मा को भी बांध लेती है।

मेरे प्रिय! निराशा की इन जंजीरों को तोड़ दो. उन्हें तोडा जा सकता है, इसीलिये ही मैं तोड़ने को कह रहा हूं। उनकी सत्ता स्वप्न सत्ता मात्र है। उन्हें तोड़ने के संकल्प मात्र से ही वे टूट जावेंगी. जैसे दिये के जलते ही अंधकार टूट जाता है, वैसे ही संकल्प के जागते ही स्वप्न टूट जाते हैं।

और, फिर निराशा के खंडित होते ही जो आलोक चेतना को घेर लेता है, उसका ही नाम आशा है।

निराशा स्वयं आरोपित दशा है। आशा स्वभाव है, स्वरूप है।

निराशा मानसिक आवरण है। आशा आत्मिक आविर्भाव। मैं कह रहा हूं कि आशा स्वभाव है। क्यों? क्योंकि यदि ऐसा न हो तो जीवनविकास की ओर सतत गति और आरोहण की कोई संभावना न रह जावे। बीज अंकुर बनने को तड़फता है, क्योंकि कहीं—उसके प्राणों के किसी अंतरस्थ केन्द्र पर आशा का आवास है। और, सभी प्राण अंकुरित होना चाहते हैं और जो भी है वह विकसित और पूर्ण होना चाहता है। अपूर्ण की पूर्ण के लिये अभीप्सा आशा के अभाव में कैसे हो सकती है और पदार्थ को परमात्मा की ओर यात्रा, क्या आशा के बिना संभव है?

मैं नदियों को सागर की ओर दौडते देखता हूं तो मुझे उनके प्राणों में आशा का संचार दिखाई पड़ता है। और, जब मैं अग्नि को सूर्य की ओर उठते देखता हूं तब भी उन लपटों में छिपी आशा के मुझे दर्शन होते हैं।

और क्या यह ज्ञात नहीं है कि छोटे छोटे बच्चों की आंखों में आशा के दीप जलते हैं? और पशुओं की आंखों में भी और पक्षियों के गीतों में भी?

जो भी जीवित है, वह आशा से जीवित है और जो भी मृत है वह निराशा से मृत है।

यदि हम छोटे बच्चों को देखें जिन्हें कि अभी समाज–शिक्षा और सभ्यता न विकृत नहीं किया है, तो बहुत से जीवन–सूत्र हमें दिखाई पड़ेंगें. सबसे पहली बात दिखाई पड़ेगी————————आशा, दूसरी बात————जिज्ञासा और तीसरी बात श्रद्धा, निश्चय ही ये गुण स्वाभाविक हैं। उन्हें अर्जित नहीं करना होता है। वे हममें हैं———————— हां, हम चाहें तो उन्हें खो अवश्य सकते हैं। फिर भी हम उन्हें बिल्कुल ही नहीं खो सकते हैं क्योंकि जो स्वभाव है वह नष्ट नहीं होता। स्वभाव केवल आच्छादित ही हो सकता है, विनष्ट नहीं। और जो स्वभाव नहीं है, वह भी केवल वस्त्र ही बन सकता है, अंतस् कभी नहीं। इसलिये मैं कहता हूं कि वस्त्रों को अलग करो और उसे देखो जो कि तुम स्वयं हो। सब वस्त्र बंधन हैं और निश्चय ही परमात्मा निर्वस्त्र है।

क्या अच्छा न हो और तुम भी निर्वस्त्र हो जाओ? मैं उन वस्त्रों की बात नहीं कर रहा हूं, जो कि कपास के धागों से बनते हैं। उन्हें छोड़कर तो बहुत से व्यक्ति निर्वस्त्र हो जाते हैं————और फिर भी वही बने रहते हैं जो कि वे वस्त्रों में थे! कपास में थे! कपास के कमजोर धागे नहीं, निषेधात्मक भावनाओं (Negative Emotions) की लौह शृंखलायें तुम्हारे बंधन हैं. उन्हें जो छोड़ता है, वही उस निर्दोष नग्नता (Innocence) को उपलब्ध होता है जिसकी ओर कि महावीर ने इशारा किया है।

सत्य को पाने को————————स्वयं को जानने को————स्वरूप में प्रतिष्ठित होने को सब वस्त्रों को छोड नग्न हो जाना आवश्यक है।

और निराशा के वस्त्र सबसे पहले छोड़ने होंगे क्योंकि उसके बाद ही दूसरे वस्त्र छोडे जा सकते हैं.

परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व यदि तुम्हारे चरण कहीं भी रूकें तो जानना कि निराशा का विष कहीं न कहीं तुम्हारे भीतर बना ही हुआ है। उससे ही प्रमाद और आलस्य उत्पन्न होता है।

संसार में विश्राम के स्थलों को ही प्रमादवश गन्तव्य समझने की भूल हो जाती है। परमात्मा के पूर्व और परमात्मा के अतिरिक्त और कोई गन्तव्य नहीं है। इसे तुम्हारी समग्र आत्मा को कहने दो। कहने दो कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई चरम विश्राम (Ultimate Rest) नहीं है, क्योंकि परमात्मा में ही पूर्णता है।

परमात्मा के पूर्व जो रुकता है, वह स्वयं का अपमान करता है क्योंकि वह जो हो सकता था, उसके पूर्व ही ठहर गया होता है।

संकल्प और साध्य जितना ऊंचा हो, उतनी ही गहराई तक स्वयं की सोई शक्तियां जागती हैं, साध्य की ऊंचाई ही तुम्हारी शक्ति का परिमाण है। आकाश को छूते वृक्षों को देखो। उनकी जड़ें अवश्य ही पाताल को छूती होंगी। और तुम भी यदि आकाश छूने की आशा और आकांक्षा से आन्दोलित हो जाओगे तो निश्चय ही जानो कि तुम्हारे गहरे से गहरे प्राणों में सोई हुई शक्तियाँ जाग जावेंगी। जितनी तुम्हारी अभीप्सा की ऊंचाई होती है, उतनी ही तुम्हारी शक्ति की गहराई भी होती है।

क्षुद्र की आकांक्षा, चेतना को क्षुद्र बनाती है, तब यदि मांगना ही है तो परमात्मा को मांगो। वह जो कि अंततः तुम होना चाहोगे, प्रारंभ से ही उसकी ही तुम्हारी मांग होनी चाहिये। क्योंकि, प्रथम ही अंततः अंतिम उपलब्धि बनता है।

मैं जानता हूं कि तुम ऐसी परिस्थितियों में निरंन्तर ही घिरे हो, जो कि प्रतिकूल हैं और परमात्मा की ओर उठने से रोकती हैं। लेकिन ध्यान में रखना कि जो परमात्मा की ओर उठे, वे भी कभी ऐसी ही परिस्थितियों से घिरे थे। परिस्थितियों का बहाना मत लेना। परिस्थितियां नहीं, वह बहाना ही असली अवरोध बन जाता है। परिस्थितियां कितनी ही प्रतिकूल हों, वे इतनी प्रतिकूल कभी भी नहीं हो सकती हैं कि परमात्मा के मार्ग में बाधा बन जावें। वैसा होना असंभव है। वह जो वैसा ही होगा जैसे कि कोई कहे कि अंधेरा इतना घना है कि प्रकाश के जलाने में बाधा बन गया है। अंधेरा कभी इतना घना नहीं होता और न ही परिस्थितियां इतनी प्रतिकूल होती हैं कि वे प्रकाश के आगमन में बाधा बन सके। तुम्हारी निराशा के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। वस्तुतः तुम्हारे अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है।

उसे बहुत मूल्य कभी मत दो जो कि आज है और कल नहीं होगा। जिसमें पल पल परिवर्तन है, उसका मूल्य ही क्या? परिस्थितियों का प्रवाह तो नदी की भांति है। उसे देखो———उस पर ध्यान दो जो कि नदी की धार में भी अडिग चट्टान की भांति स्थिर है। वह कौन है? वह तुम्हारी चेतना है———वह तुम्हारी आत्मा है———वह तुम अपने वास्तविक रूप में स्वयं हो। सब बदल जाता है———बस वही अपरिवर्तित है। उस ध्रुव बिन्दु को पकड़ो और उस पर ठहरो। लेकिन तुम तो आंधियों के साथ कंप रहे हो और लहरों के साथ थरथरा रहे हो? क्या वह शांत और अडिग चट्टान तुम्हें नहीं दिखाई पडती है जिस पर कि तुम खड़े हो और जो कि तुम हो? उसकी

स्मृति को लाओ। उसकी ओर आंखें उठते ही निराशा आशा में परिणत हो जाती है और अंधकार आलोक बन जाता है।

और स्मरण रखना कि जो समग्र हृदय से, आशा और आश्वासन से, शक्ति और संकल्प से, प्रेम और प्रार्थना से, स्वयं, स्वयं की सत्ता का द्वार खटखटाता है, वह कभी भी असफल नहीं लौटता है क्योंकि प्रभु के मार्ग पर असफलता है ही नहीं। पाप के मार्ग पर सफलता असंभव और प्रभु के मार्ग पर असफलता। पाप के मार्ग पर सफलता हो तो समझना कि भ्रम है और प्रभु के मार्ग पर असफलता हो तो समझना कि परीक्षा है।

वस्तुतः तो प्रभु उपलब्धि का द्वार कभी बंद ही नहीं है। हम अपनी ही निराशा में अपनी ही आंख बंद कर लेते हैं वह बात दूसरी है। निराशा को हटाओं और देखो————वह कौन सामने खडा है? क्या यही वह सूर्य नहीं है जिसकी खोज थी, क्या यही वह प्रिय नहीं है, जिसकी कि प्यास थी?

क्राइस्ट ने कहा है: 'मांगो और मिलेगा। खटखटाओ और द्वार खुल जावेंगे।" वही मैं पुनः कहता हूं। वही क्राइस्ट के पहले भी कहा गया था, वही मेरे बाद भी कहा जावेगा। धन्य हैं वे लोग जो खटखटाते हैं और आश्चर्य है उन लोगों पर जो कि प्रभु के द्वार पर ही खड़े हैं और आंख बंद किये हैं ओर रो रहें हैं।

जीवन की अदृश्य जड़ें

१: किस संबंध में आपसे बातें करुं? जीवन के संबंध में? शायद यही उचित होगा, क्योंकि जीवित होते हुये भी जीवन से हमारा संबंध नहीं है। यह तथ्य कितना विरोधाभासी है? क्या जीवित होते हुये भी यह हो सकता है कि जीवन से हमारा संबंध न हो? मित्र, यह हो सकता है। न केवल हो ही सकता है बल्कि ऐसा ही है भी। जीवित होते हुये भी, जीवन भूला हुआ है। शायद हम जीने में इतने व्यस्त हैं कि जीवन का विस्मरण ही हो गया है!

२: वृक्षों को देखता हूं तो विचार आता है कि क्या उन्हें अपनी जड़ों का पता होगा? पर वृक्ष तो वृक्ष हैं, मनुष्य को ही अपनी जड़ों का पता नहीं। और जड़ों का ही पता न हो तो जीवन से संबंध कैसे होगा? जीवन तो जड़ों में है————अदृश्य जड़ों में। दृश्य के प्राण अदृश्य में होते हैं। जो दिखाई पड़ता है, उसका जीवन स्रोत उसमें होता है जो कि दिखाई नहीं पड़ता है। दृश्य को अदृश्य धारण किये हुये है। जब तक यह अनुभव न हो तब तक जीवित होते हुये भी जीवन से संबंध नहीं होता है।

३ : जीवन से संबंधित होने के लिये जीवन मिल जाना ही पर्याप्त नहीं। वह भूमिका तो है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है। उसमें संभावनायें तो हैं लेकिन वही पूर्णता नहीं है। उससे यात्रा तो शुरु हो सकती है, लेकिन उसपर ही ठहरा नहीं जा सकता है। पर कितने ही लोग हैं जो कि प्रस्थान बिन्दु को ही गन्तव्य मानकर रुक जाते हैं। शायद अधिकांशतः यही होता है। बहुत कम ही व्यक्ति हैं जो कि प्रस्थान बिन्दु में और पहुंचने की मंजिल में भेद करते हों और उस भेद को जीते हों। कुछ लोग शायद भेद कर लेते हैं, पर उस भेद को जीते नहीं। उनका भेद, मात्र बौद्धिक होता है और स्मरण रहे कि बौद्धिक समझ कोई समझ नहीं। समझ और गहरे से——जीवन के —— अस्तित्व के अनुभव से आवे तो ही परिणामकारी होती है। हृदय की गहराई से और अनुभव की तीव्रता से ही वह ज्ञान आता है जो कि व्यक्ति को बदलता है, नया करता है। बुद्धि तो उधार विचारों को ही अपना समझने की भ्रांति में पड़ जाती है। बुद्धि की संवेदना है ही बहुत सतही जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढता होती है। उनका बनना मिटना चलता ही रहता है और सागर का अंतस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न ही परिवर्तित होता है। ऐसी ही स्थिति बुद्धि की भी है।

४ : बुद्धि से नहीं, अनुभव से——अस्तित्व से——स्वयं की सत्ता से यह बोध आना चाहिये कि जन्म और जीवन में भेद है। चलने और पहुंचने में अंतर है। जन्म प्रारंभ है, अंत नहीं। यह दृष्टि न जगे तो जन्म को ही जीवन मान लिया जाता है। फिर जो जन्म को ही जीवन जानता और मानता है, अनिवार्यतः उसे मृत्यु को ही अंत और पूर्णता भी माननी पड़ती है! जन्म को जीवन मानने की भूल से ही मृत्यु को स्वयं की परिसमाप्ति मानने की भ्रांति का भी जन्म होता है। वह पहली भूल की ही सहज निष्पत्ति है। वह उसका ही विकास और निष्कर्ष है। जन्म से जो बंधे हैं, वे मृत्यु से भी भयभीत होंगें ही। मृत्यु भय जन्म से बंधे होने की ही दूरगामी प्रतिध्वनि है।

५ : वस्तुतः, हम जिसे जीवन कहते हैं, वह जीवन कम और जीवित मृत्यु ही ज्यादा है। शरीर से ऊपर और शरीर से भिन्न जिसने स्वयं को नहीं जाना, वह कहने मात्र को ही जीवित है। जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् जिसे स्वयं का होना अनुभव नहीं होता, वह जीवित नहीं है। उसे जन्म के बाद और मृत्यु के पूर्व भी जीवन का अनुभव नहीं होगा क्योंकि जीवन का अनुभव तो अखंड और अविच्छिन्न है। ऐसे व्यक्ति ने जन्म को ही जीवन मान लिया है।

सच तो यही है कि उसने अभी जन्म ही पाया है, जीवन नहीं। जन्म बाह्य घटना है, जीवन आंतरिक। जन्म संसार है, जीवन परमात्मा। जन्म जीवन तो नहीं है लेकिन जीवन में वह गति का द्वार हो सकता है। लेकिन साधारणतः तो वह मृत्यु का ही द्वार सिद्ध होता है। उस पर ही छोड़ देने से ऐसा होता है। साधना जन्म को जीवन बना सकती है। मृत्यु विकसित हुआ जन्म ही है। अचेतन और मूर्च्छित जीना मृत्यु में ले जायेगा——सचेतन और अमूर्च्छित जीना जीवन में, अमूर्च्छित जीवन को ही मैं साधना कहता हूं। साधना से जीवन उपलब्ध होता है। वही धर्म है।

६ : मैं बूढों को देखता हूं और बच्चों को देखता हूं तो मुझे जन्म की, मृत्यु की दृष्टि से तो उनमें भेद दिखाई पड़ता है लेकिन जीवन की दृष्टि से नहीं। जीवन से सभी अछूते हैं। जीवन समय की गति के बाहर है। जन्म और मृत्यु समय में घटित होते हैं। जीवन समय के बाहर। उम्र का बढता जाना समय में होता है। उसे ही जीवन-वृद्धि न समझ लेना। आयुष्य और जीवन भिन्न हैं। जीवन पाने को समय के बाहर चलना होगा। समय क्या है? परिवर्तन समय है। संसार में सब कुछ परिवर्तन है। वहां कुछ भी ठहरा हुआ नहीं है। देखो और खोजो तो पाओगे कि स्वयं के बाहर एक भी बिन्दु, एक भी अणु स्थिर नहीं है। पर स्वयं में कुछ है जो कि परिवर्तन के बाहर है। स्वयं में समय नहीं है। स्व–सत्ता कालातीत है। इसी सत्ता में प्रवेश——इसी सत्ता में जागरण जीवन है।

७ : जीवन को खोजो अन्यथा मृत्यु आपको खोज रही है। वह प्रतिक्षण निकट आती जा रही है। जन्म के बाद प्रतिक्षण उसकी ही विजय का क्षण है। कुछ भी आप करो——केवल जीवन में प्रवेश छोड़कर——उसकी विजय सुनिश्चित है। संपत्ति, शक्ति या यश——सभी उसके समक्ष निर्जीव छायाओं की भांति हैं। उसकी मौजूदी में वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। स्वयं की सत्ता——स्व-अस्तित्व की अनुभूति ही केवल अमृत है। वही और केवल वही मृत्यु के बाहर है क्योंकि समय के बाहर है। समय में जो कुछ भी है, सभी–मरणधर्मा है। समय मृत्यु की गति है। उसके ही चरणों का वह माप है। समय में दौड़ना मृत्यु में दौड़ना है। और सभी वहीं दौडे जाते हैं। मैं सभी को, अपने ही हाथों मृत्यु के मुंह में, दौडते हुये देखता हूं। ठहरो और सोचो। आपके पैर आपको कहां लिये जा रहे हैं? आप उन्हें चला रहे हो या कि वे ही आपको चला रहें हैं?

८ : प्रतिदिन ही कोई मृत्यु के मुंह में गिरता है और आप ऐसे खड़े रहते हैं कि जैसे यह दुर्भाग्य उस पर ही गिरने को था ! आप दशक बने रहते हैं। यदि आपके पास सत्य को देखने की आंखें हो तो उसकी मृत्यु में अपनी भी मृत्यु दिखाई पड़ती। वही आपके साथ भी होने को है। वस्तुतः हो ही रहा है। आप रोज रोज मर ही रहे हैं, जिसे आपने जीवन समझ रखा है वह क्रमिक मृत्यु है। हम सब धीरे धीरे मरते रहते हैं। मरण की यह प्रक्रिया इतनी धीमी है कि जब तक वह अपनी पूर्णता नहीं पा लेती तब तक प्रगट ही नहीं होती। उसे देखने को विचार की सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। चर्मचक्षुओं से तो केवल दूसरों की मृत्यु का दर्शन होता है किन्तु विचार चक्षु स्वयं की मृत्यु घिरी और मृत्योन्मुख स्थिति को भी स्पष्ट कर देते हैं। स्वयं को इस संकट की स्थिति में घिरा जानकर ही जीवन को पाने की आकांक्षा का उद्भव होता है। जैसे कोई जाने कि वह जिस घर में बैठा है उसमें आग लगी हुई है और फिर उस घर के बाहर भागे वैसे ही स्वयं के गृह को मृत्यु की लपटों से घिरा जान हमारे भीतर भी जीवन को पाने की तीव्र और उत्कट अभीप्सा पैदा होती है। इस अभीप्सा से बडा और कोई सौभाग्य नहीं क्योंकि वही जीवन के उत्तरोत्तर गहरे स्तरों में प्रवेश दिलाती है।

९ : क्या आपके भीतर ऐसी कोई प्यास है ? क्या आपके प्राण ज्ञात के ऊपर अज्ञात को पाने को आकुल हुये हैं ? यदि नहीं तो समझें कि आपकी आंखें बंद हैं और आप अंधे बने हुये हैं। यह अंधापन मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जा सकता है। जीवन तक पहुंचने के लिये आंखें चाहिये। मित्र, समय रहते चेत जाना आवश्यक है। फिर पीछे पछताने से कुछ भी नहीं होता है। आंखें खोलें और देखें तो चारों और मृत्यु दिखाई पड़ेगी। समय में, संसार में मृत्यु ही है। लेकिन समय के, संसार के बाहर— स्वयं में अमृत भी है। तथा-कथित जीवन को जो मृत्यु की भांति जान लेता है, उसकी दृष्टि सहज ही स्वयं में छिपे अमृत की ओर उठने लगती है। और जो उस अमृत को पा लेता है, पी लेता है, जी लेता है, उसे फिर कहीं भी मृत्यु नहीं रह जाती है। फिर बाहर भी मुत्यु नहीं है। फिर मृत्यु भ्रम है। और जीवन सत्य है।

आचार्य श्री रजनीश

जीवन एक यात्रा है। हम किसी बिन्दु से चल रहे हैं और हमें किसी बिन्दु तक पहुंचना है। हमारा होना एक विकास है। हम पूर्ण नहीं हैं, किन्तु हमें पूर्ण होना है। पूर्णता के लिये न कोई विकास है, न कोई यात्रा है। सब विकास और यात्रा अपूर्णता में है। हम यात्रा में हैं। इस बोध का अर्थ है कि हम अपूर्ण हैं। अपनी अपूर्णता को ध्यान में रखो। अपनी सीमाओं पर मनन करने से अपूर्णता का दर्शन होता है। और अपूर्णता का बोध पूर्णता की अभीप्सा को जन्म देता है। जिसे दीखेगा कि वह अपूर्ण है, वह पूर्णता के लिये आकांक्षा से भर ही जावेगा। जो अनुभव करता है कि वह अस्वस्थ है, वह सहज ही स्वास्थ्य के लिये कामना करने लगता है। अंधकार का अनुभव होने लगे तो प्रकाश की प्यास पैदा हो ही जाती है।

आचार्यश्री रजनीश के सत्संग में

सुश्री क्रांति देवी....

रात्रि बहुत अंधेरी है। हम सब चुप बैठे हैं। आचार्य श्री के साथ चुपचाप बैठना भी एक अनुभव और आनंद है। उनके निकट कई बार लगा है कि जैसे मौन में भी वे कुछ कहते हैं। उनसे इस सम्बन्ध में पूछा भी था। वे हंसने लगे थे और फिर बोले थे : 'सत्य को बोलने में कोई भी शब्द समर्थ नहीं है। उसे तो मौन में ही कहा जा सकता है। काश ! मौन होना हमें ज्ञात हो, तो रहस्य के अनंत द्वार खुल जाते हैं। मनुष्य की पीड़ा यही है कि वह

मौन होना भूल गया है। उस भूल के कारण ही प्रकृति से उसके समस्त संबंध विच्छिन्न हो गये हैं। प्रकृति के पास तो मौन के अतिरिक्त कोई भाषा नहीं है, और जो उस भाषा को भूल जाता है, वह सहज ही प्रकृति से दूर हो जायेगा। और, प्रकृति से दूर हो जाना ही पीड़ा है।

फिर वे चुप हो गये। उनके साथ हम भी चुप हो गये। रात्रि का सन्नाटा सुनाई पड़ने लगा। हवायें दरख्तों को हिलाती हैं, और झींगरों का संगीत सुन पड़ता है। हम सजग हैं और मौन हैं। हम उस मौन में अपने को पिघलता हुआ अनुभव करते हैं। भीतर कुछ विलीन होता लगता है। वह मौन हमें बाष्पीभूत कर रहा है। तभी वे बोले : "मैं भाव जब मिटता है, तभी मौन उपलब्ध होता है। उसके विलीन होने पर ही प्रकृति से मिलन और संवाद है।"

किसी ने पूछा : "मौन कैसे हों ?" उन्होंने उत्तर में कहा : "बस हो जाओ। बहुत विधि और व्यवस्था की बात नहीं है। चारों ओर जो हो रहा है, उसे सजग होकर देखो, और जो सुन पड़ रहा है, उसे साक्षीभाव से सुनो। संवेदनों के प्रति होश तो पूरा हो, पर प्रतिक्रिया न हो। प्रतिक्रिया-शुन्य सजगता से मौन सहज ही निष्पन्न होता है।"

थोडी देर बाद वे कहने लगे : "मात्र वाणी के अव्यवहार को ही मैं मौन नहीं कहता। वाणी का नहीं, प्रश्न विचार का है। वाणी तो गौण है, मूल और केन्द्र तो विचार है। भीतर विचार चलते हों और वाणी विरुद्ध भी हो तो वह मौन नहीं है और भीतर विचारों की तांत्रिक धारा न हो, चाहे वाणी प्रयुक्त भी हो तो भी वह मौन है। जैसे कोई भोजन न ले, लेकिन भोजन का भोग चिन्तन करे तो उसे मैं उपवास नहीं कहूंगा। और, यह भी हो सकता है कि कोई भोजन ले, लेकिन उसमें भोगवृत्ति और मूर्च्छा न हो तो वह उपवास ही है। असली बात हमेशा ही आंतरिक है, औपचारिक नहीं."

मैं सुनती हूं कि 'असली बात हमेशा ही आंतरिक है, औपचारिक नहीं' और मुझे उनकी बहुत सी अंतर्दृष्टियां स्मरण हो आती हैं। उनके जीवन दर्शन में यह धारण बहुत आधारभूत है। वस्त्रों पर नहीं, उनका जोर हमेशा ही वृत्तियों पर है। और बाह्य चर्या परिवर्तन पर नहीं, उनका आग्रह सदा ही अंतस् क्रांति के लिये है। औपचारिक की बाढ ने समस्त धर्मों को नष्ट कर दिया है। असार की उस भीड़ में ही सार खो जाता है और एक दिन हम पाते हैं कि हमारे हाथों में केवल राख है, और अंगारे कब के ही तिरोहित हो चुके हैं।

एक अपरिचित व्यक्ति आये हैं। उन्होंने कुछ फूल आचार्यश्री को भेंट किये। वे फूल सुन्दर हैं, आचार्यश्री ने कहा : "फूल कितने सुन्दर हैं ? किन्तु मित्र, तुमने इन्हें तोड़कर सुन्दर कार्य नहीं किया। जो सौन्दर्य को प्रेम करेगा वह फूलों को पौधों से तोड़ने म असमर्थ हो जायेगा। तोड़ने से जीवित फूल मृत हो गये और जीवित को मृत करने से असुन्दर और कुछ भी नहीं है। हिन्सा सबसे बडी कुरुपता है, और अहिन्सा सबसे बडा सौन्दर्य है"।

किसी ने पूछा : 'हम फूलों को प्रेम करते हैं, इसीलिये ही तो उन्हें तोड़ते हैं ?"

वे बोले : 'प्रेम और फूलों के तोड़े जाने में विरोध है। फूलों से प्रेम हो, तो उन्हें कैसे कोई तोड़ सकेगा ? उनका तोड़ा जाना प्रेम का नहीं, क्रुरता का प्रतीक है। वह हमारी अधिकार लिप्सा है। जो भी हमें सुन्दर लगता है, उसके ही मालिक होना चाहते हैं। फिर, चाहे इस अधिकार करने में वह नष्ट ही क्यों न हो जाये। यह फूलों के साथ ही नहीं, वरन् हमारे समस्त जीवन व्यवहार के लिये भी सत्य है। मानवीय संबंधों में भी हम यही करते हैं। जिन्हें हम प्रेम करते हुये मालुम पड़ते हैं, उनके साथ भी हम यही क्रूरता करते हैं। वहां भी अधिकार चाहा और आरोपित किया जाता है। वहां भी फूल तोड़ लिये जाते हैं, और जीवन के पौधे इस छीन झपट में असमय ही नष्ट हो जाते हैं'।

कुछ देर बाद उन्होंने पुनः कहाः 'जहां प्रेम है, वहां अधिकार और बंधन नहीं है, प्रेम तोड़ता नहीं, लगाता है। प्रेम मारता नहीं, जिलाता है, और प्रेम बांधता नहीं, मुक्त करता है। फूलों से यदि प्रेम है, तो स्वयं फूलों के हो जाओ, किन्तु उन्हें तोड़कर उनके मालिक मत बनो, प्रेम केवल देना ही जानता है, मांगने की भाषा भी उसे अपरिचित है, छीननें की भाषा का तो सवाल ही नहीं। और स्मरण रहे कि यह पूरे जीवन के लिये कह रहा हूं। जो इस सत्य को नहीं जानते हैं, वे प्रेम पर अपनी क्रूरता और हिन्सा को ही पोषित करते हैं, उनके तथाकथित प्रेम में उनकी घृणा ही छिपी रहती है, और उनके सौन्दर्य बोध में बहुत गहरी कुरुपता होती है'।

यह सुनकर हम सोच में पड़ गये। उन्होंने हमारे किन्हीं गहरे घावों को छू दिया था।

वे हंसे और बोले : "सोचो मत, देखो। सोचने से मनुष्य सच्चाईयों से दूर निकल जाता है। वह अपने सें ही दूर निकल जाता है। वह अपने से ही दूर जाने और बचने की तरकीब है। अच्छा हो कि जो मैं कह रहा हूं, उसकी सच्चाई को अपने भीतर देखो। अपने प्रेम को उघाड़ो और देखो कि क्या जो मैंने कहा वह सच है ?"

हम एक यात्रा पर थे। जिन यात्रियों के गन्तव्य आ जाते वे अपने स्थान के आने के पूर्व ही गाडी से उतरने के लिये अपना सामान तैयार कर लेते थे। आचार्य श्री ने कहा : "देखो, इस साधारण यात्रा में यात्री कितने सजग हैं, पर जीवन की महत् यात्रा में हमारी सजगता जरा सी भी नहीं होती। न गन्तव्य का कोई बोध होता है, और न कोई पूर्व तैयारी। मृत्यु जब हमें जीवन से अलग करती है, तो हम अवाक् ही रह जाते हैं। उस समय ज्ञात होता है कि हमें ज्ञात ही नहीं था कि मृत्यु भी है, और उसके लिये हमें कोई तैयारी करनी थी ?"

मैंने पूछा : "हम क्या करें ?"

वे बोले : 'पहली बात तो यह जानने और स्मरण रखने की है कि जीवन एक यात्रा है। हम किसी बिन्दु से चल रहे हैं, और हमें किसी बिन्दु तक पहुंचना है। हमारा होना एक विकास है। हम पूर्ण नहीं हैं, किन्तु हमें पूर्ण होना है। पूर्णता के लिये न कोई विकास है, न कोई यात्रा है। सब विकास और यात्रा अपूर्णता में है। हम यात्रा में हैं, इस बोध का अर्थ है कि हम अपूर्ण हैं। अपनी अपूर्णता को ध्यान में रखो, अपनी सीमाओं पर मनन करने से अपूर्णता का दर्शन होता है। और अपूर्णता का बोध पूर्णता की अभीप्सा को जन्म देता है। जिसे दीखेगा कि वह अपूर्ण है, वह पूर्ण के लिये आकांक्षा से भर ही जायेगा। जो अनुभव करता है कि वह अस्वस्थ है, वह सहज ही स्वास्थ्य के लिये कामना करने लगता है। अंधकार का अनुभव होने लगे तो प्रकाश की प्यास पैदा हो ही जाती है।"

एक सहयात्री ने कहा: "यदि अपूर्णता का अनुभव भी हो, तो फिर क्या होगा ?"

उन्होंने उस यात्री की ओर देखा और कहा : "जब किसी को प्यास का अनुभव होता है, तो क्या होता है ? क्या प्यास ही पानी की खोज नहीं बन जाती है ? ऐसे ही अपूर्णता का अनुभव पूर्णता की प्यास और खोज बन जाता है तब जीवन में गन्तव्य आता है, और हम कहीं पहुँचना प्रारंभ होते हैं। गन्तव्य-शून्य जीवन भोग है, गन्तव्य–युक्त जीवन योग बन जाता है। भोग का जीवन सरोवर का जीवन है। वह कहीं जाता नहीं। वह बस सूखता और समाप्त होता है। योग का जीवन सरिता का जीवन है। वह सागर की ओर सतत गति है। सरिता बनो और सागर की ओर चलो। उस भांति ही केवल सार्थकता उपलब्ध होगी। सरोवर अपने में जीता है। वह यात्रा नहीं है। उसे कहीं पहुंचना और कुछ होना नहीं है। सरिता अपने में नहीं जीती। वह अपने अतिक्रमण के लिये जीती है। वह अपने से पार के लिये जीती है। सरिता यात्रा है, और गति है। क्यों कि उसे सागर होना है। वह अपने से अतृप्त है, और अपनी सीमाओं को पार कर असीम को पाने की उसकी आकांक्षा है। ऐसी ही आकांक्षा मनुष्य में भी स्वयं की अपूर्णता के

बोध से पैदा होती है। अपूर्णता को अनुभव करना मनुष्य का सबसे बडा सौभाग्य है, क्योंकि उसके द्वारा ही पूर्णता की ओर पहले चरण रखे जाते हैं।

सुबह हो गई है। हम एक नदी तट पर हैं। मछुये मछली पकड रहे हैं। कुछ पकडी गई मछलियां रेत पर तडप रही हैं। आचार्यश्री ने कहा : "जैसे पानी के बाहर मछलियां तडफती हैं, ऐसे ही परमात्मा के बाहर मनुष्य तडफता है।"

फिर हम वापिस लौटते थे : किसी ने पूछा "हमारे दुखों का कारण क्या है ?" वे बोले : "दुखों का नहीं, पूछो 'दुख' का, क्योंकि वस्तुतः बहुत दुख नहीं हैं, एक ही दुख है। परमात्मा के बाहर होना ही हमारा एकमात्र संताप है। और, यह हमें ज्ञात भी नहीं रहता है। दुखों की भीड़ में हम 'दुख' को भूल जाते हैं। और, फिर 'दुख' से दुखों का जन्म होता है। परमात्मा से दूर होना मूल दुख है। शेष सब दुःख उसकी सन्तति हैं। जैसे कोई किसी वृक्ष की जड़ को न काटकर मात्र शाखा प्रशाखाओं को काटता रहे, और सोचे कि वृक्ष नष्ट हो जावेगा, ऐसी ही भूल वह व्यक्ति भी करता है, जो दुःख को भूल दुःखों को दूर करने का उपाय करता है"

मैं सुनती थी, तो मुझे लगा कि इन छोटे छोटे वचनों में कितना सत्य है। क्या सच ही हम पानी के बाहर पड़ी मछलियों की भांति नहीं तडप रहे हैं ? और विचार के उस क्षण में मैंने सारे जगत को मछलियों की भांति तड़पते हुये देखा।

वे मुझे विचार में देख बोले थे : "विचार क्या करना है ? मनुष्य वह मछली भी है, जो सागर के जल से वियुक्त हो रेत पर तडफती है, और वह मछुआ भी वही है, जो उसे ऐसा तड़फाता है। मनुष्य मछली भी है और मछुआ भी। हम ही अपने बंधन और दुख के कारण हैं. और, यही हमारी स्वतंत्रता और मुक्ति की आशा और संभावना है। हम जिस दिन निर्णय लें, उसी दिन परमात्मा से वापिस जुड़ सकते हैं। अपने ही संकल्प से दूर हैं, इसीलिये अपने ही संकल्प से निकट हो सकते हैं। मनुष्य की परतंत्रता में ही उसकी स्वतंत्रता छिपी हुई है।

सूर्य डूबने को था, उसे देखते हुये आचार्यश्री एक वृक्ष मूल के निकट बैठे थे। तभी हम उनके पास गये। उनकी आंखों में करुणा थी। उन्होंने सूर्य की ओर इशारा करते हुये कहा : "सूर्यास्त की भांति ही आज धर्म भी अस्त हुआ जा रहा है। मनुष्य के समस्त दुखों के मूल में यही दुर्घटना है।"

सूर्य का डूबना और उनकी वाणी में छिपी हृदय की वेदना ने उस सांझ को बहुत उदास कर दिया। हम कुछ न बोल सके और चुप हो रहे। फिर वे स्वयं ही बोलने लगे। जैसे वे हमसे नहीं, अपने से ही बोलते हों, ऐसा हमें लगा।

उन्होंने कहा : "और, इसका कारण है, सद् धर्म का एक न होना। धर्म की और शुभ की शक्तियां एक नहीं हैं, इसीलिये धर्म जो कि अपराजेय है, अधर्म

के सामने पराजित होता देखा जाता है। हमें इससे अधिक हानि और किसी चीज से नहीं पहुंची है। यह अब तक चला, पर अब आगे नहीं चल सकेगा। मनुष्यता के जीवन में एक ऐसा क्षण आ गया है कि या तो शुभ और सत्य की शक्तियों को एक होना होगा, या फिर मनुष्यता ही नहीं बचेगी। अशुभ के साथ जो अंतिम और निर्णायक युद्ध है, उसमें शुभ की समस्त शक्तियां इकट्ठी होकर ही सफलता की आशा कर सकती हैं।"

यह विचार हमारे हृदयों में घर कर गया। हमें यह ठीक ही लगा। धर्म के नाम पर धर्मों के संघर्ष बहुत अशोभन प्रतीत होते हैं। धर्मों में विरोध हो, यह असंभव होना चाहिये, पर स्थिति उल्टी ही है। उनमें अविरोध ही असंभव बना हुआ है। धर्मों की बात तो दूर, एक ही धर्म के भीतर, पंथों और संप्रदायों में जो मनोमालिन्य और वैमनस्य है, वह बहुत आश्चर्य पैदा करता है। जरुर ही कहीं कोई बुनियादी भूल है।

मैंने उनसे पूछा कि वह कौनसा बुनियादी कारण है जिसके कारण धर्म-धर्म में विरोध है? वे बोले: "अहंकार और केवल अहंकार। धर्म का धर्म से कोई विरोध नहीं है। विरोध है तथाकथित धर्मानुयायिओं की अहंताओं में। अहंकार ही लड़ता और लड़ाता है। इसलिये एक धर्म को मानने वाले भी अनेक अहंता केन्द्रों को बनाकर विभक्त हो जाते हैं। विश्व में समस्त विभक्ति और विरोध का केन्द्र और कारण अहं है, और समस्त मिलन और प्रेम का कारण अहं-विसर्जन। और सच पूछें तो अहं ही अधर्म है। धर्म नहीं लड़ाते धर्मानुयायियों में जो अधर्म है, वही लड़ाता है। जब तक धार्मिक होना जीवन से नहीं, जन्म से ही निर्णित होता रहेगा, तब तक यह स्वाभाविक ही है। धार्मिक हुये बिना ही लोग धार्मिक बने हुये हैं, यही सारे उपद्रव की जड़ है। काश, धर्म का निर्धारण जन्म से न होता, और जीवन से होता, तो धर्म के नाम पर हुये कलंकों से जिनके लिये जीवित अनुभव नहीं है, वे ही अपरिष्कृत व्यक्ति धर्मों के बीच बनी समस्त खाईयों के निर्माता हैं।"

वे कुछ देर चुप रहे और उन्होंने पुनः कहा: "धर्म को बाहर के अधार्मिक व्यक्तियों से कभी कोई हानि नहीं पहुंचती है। हानि पहुंचती है, भीतर के अधार्मिक व्यक्तियों से। धर्मों के लिये संकट हमेशा भीतर से है, यद्यपि अज्ञानवश लोग उसे सदा ही बाहर से समझते रहे हैं, और इसलिये उन्होंने बाहर से तो सुरक्षा की और भीतर के प्रति बेखबर रहे। मैं देख रहा हूं कि बाहर कोई दुश्मन ही न थे, और भीतर के दुश्मनों ने अंततः धर्मों को डुबो दिया। भीतर के

अधार्मिक लोग धर्म को साधना की भांति नहीं, एक संगठन की भांति पकड़ते हैं, और तब वे क्रमशः उसे एक सामाजिक और राजनैतिक रुप देने में सफल हो जाते हैं। और, उनकी सफलता ही, धर्म की असफलता हो जाती है। धर्म संगठन नहीं है। संगठन मात्र किसी के विरोध में खड़े होते हैं। घृणा उनका प्राण है। विरोध और वैमनस्य के बिना वे जी ही नहीं सकते। धर्म तो साधना है। वह तो स्वयं के जीवन के परिवर्तन का विज्ञान है। मूलतः, उसका संबंध समूह से नहीं, व्यक्ति से ही है। और, इसीलिये समस्त धर्म संगठनों के रुप में तो एक दूसरे के विरोध में हैं, किन्तु साधना के रुप में एक ही सत्य तक ले जाने वाले सहयोगी मार्ग हैं।"

इस बीच कुछ व्यक्ति और आ गये थे। उनमें से एक ने कहा : "क्या आप समस्त धर्मों को एक, और समान समझते हैं ?"

वे हंसने लगे और बोले : "धर्म तो एक ही है। सत्य एक ही हो सकता है। किन्तु उस एक सत्य तक, उस परम अनुभूति तक पहुंचने के रास्ते अनेक हो सकते हैं। वस्तुतः तो जितने पहुंचने वाले हैं, उतने ही मार्ग भी हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मार्ग बनाना पड़ता है। कोई बने बनाये रास्ते नहीं हैं। जो जहां है, उसे वहीं से प्रारंभ करना पड़ेगा। वैसा ही प्रारंभ किसी अन्य का नहीं हो सकता। प्रारंभ भिन्न, किन्तु अन्त समान होता है। व्यक्तिगत चित्त भिन्न हैं, इसलिये प्रारंभ भिन्न हैं, धर्म एक है, इसलिये अंत समान है। धर्मों का भेद धर्म का नहीं, हमारे व्यक्तित्वों का भेद है। यही संप्रदायों की उत्पत्ति का कारण है। सम्प्रदाय सत्य के कारण नहीं, हमारे कारण विभाजित हैं। किन्तु स्मरण रहे कि विभाजित होना, विरोध में होना नहीं है। एक ही गन्तव्य पर पहुंचनेवाले मार्ग भिन्न हो सकते हैं, पर इस कारण वे विरोध में नहीं कहे जा सकते, वरन् सहयोगी कहना होगा क्योंकि वे एक जगह पहुँचाते हैं! धर्म संप्रदायों में यह सहयोग बोध हो, तो बहुत शुभ फलित हो सकता है।"

फिर रात्रि हो गई, और अंधकार घिर गया। आकाश में कुछ तारे चमकने लगे थे। आचार्यश्री ने कहा : "जैसे तारे भिन्न हैं, किन्तु उनसे बहता प्रकाश एक है, ऐसे ही संप्रदाय भिन्न हैं, पर उनमें जो धर्म है, वह एक ही हैं।"

आकाश से बादल छंट गये थे। खूब पानी बरसता था किन्तु अब सूरज निकल आया था और वर्षा से धुली धुली हुई बहुत प्रीतिकर लग रही थी। थोड़ी ही देर पहले बहुत बडा इन्द्रधनुष भी आकाश में बना था। हम बाहर निकलकर फुलवारी में आ गये थे।

आचार्यश्री ने इन्द्रधनुष को दिखाकर हमसे कहा था : यह जगत्, यह शरीर, यह मन इन्द्रधनुषों की भांति है, सुन्दर किन्तु वास्तविक नहीं। इसके सौन्दर्य को जानो किन्तु इसके स्वप्न होने को भी। फिर, यह बांध नहीं पाता है। किन्तु हम तो स्वप्नों को भी स्वप्न नहीं जान पाते हैं, वे भी जब हम उनमें होते हैं, तो हमें सत्य ही मालूम होते हैं।

मैंने उनसे पूछा : 'क्या स्वप्न में, जो हम देख रहे हैं, वह सत्य नहीं, स्वप्न है, इसे स्मरण रखने का कोई उपाय है?"

वे बोले : जो व्यक्ति जाग्रत अवस्था में यह स्मरण रखता है कि वह जो भी देख रहा है, वह सब स्वप्न है, तब वह धीरे धीरे स्वप्न में भी जानने लगता है कि जो वह देख रहा है, वह सत्य नहीं है। जाग्रत को क्योंकि हम सत्य मानते हैं, इसलिये स्वप्न भी सत्य मालुम होते हैं। जाग्रत में जो हमारे चित्त की आदत है, स्वप्न में उसी का प्रतिफलन होता है।

उनकी इन बातों को सुन हम सोच में पड गये। वे जो भी कहते हैं उससे बहुत सोच विचार पैदा होता है। उनकी जरा सी बात कितन अनुभव और कितनी पैनी दृष्टि को अपने में लिये हुये होती है?

आज सुबह ही सुबह कुछ व्यक्ति आचार्यश्री को मिलने आ गये हैं। वे स्नान करके आये हैं और धूप में बैठे हैं। उनसे कोई पूछता है कि जीवन को किस भांति जीना चाहिये? वे थोड़ी देर चुप रहते हैं और फिर बोलते हैं : "दर्पण की भांति, स्वागत सबका किन्तु संग्रह किसी का भी नहीं। चित्त संस्कारों और प्रभावों को न पकड़े, ऐसा जीवन ही शुद्ध जीवन है। जो बीत जावे उसे बीत जानें दें और जो अभी न आया हो, उसकी चिन्ता न करें। ऐसी साधना से ही व्यक्ति वर्तमान से संयुक्त होता है और सत्ता में उसकी जड़ों को गहराई मिलती है। अतीत और भविष्य मानस सत्तायें हैं, जो उनमें व्यस्त और घिरा रहता है, वह जीवन को नहीं जान पाता। जीवन तो अभी है और यहां है। उसे और कहीं जो खोजता है, वह खो देता है।"

वे यह बोलकर चुप ही हुये थे कि पक्षियों की एक कतार सामने के वृक्षों से उडी और जोर की हवाओं ने आकर वृक्षों को हिलाना आरंभ कर दिया। यह देखकर उन्होंनें कहा : "वृक्षों की भांति हो जाओ और पक्षियों की भांति शुद्ध वर्तमान में जिओ। उस भांति जीने से जो निर्दोष सरलता उपलब्ध होती है, वही सत्य को जानने का द्वार है।"

आचार्यश्री ने आज एक गोष्ठी में कहा है : 'विचार और बुद्धि मनुष्य के

स्वास्थ्य का आधा ही भाग है और जो व्यक्ति आधा स्वस्थ है, वह अस्वस्थ ही है। विज्ञान और उसकी तर्कसारिणी आधे मनुष्य को ही स्पर्श करती है और मनुष्य में उससे उत्पन्न बुद्धिमत्ता अधूरी ही है। और, जो मनुष्य आधा बुद्धिमान है, वह बुद्धिमान ही कहां ? वस्तुतः जिसका आधा मन स्वस्थ है और जिसकी बुद्धिमत्ता आधी है, वह पागल ही है। मनुष्य का पूरा होना जरुरी है। उसके इस खंडित विकास में ही उसका सारा दुख और संताप छिपा हुआ है। बुद्धि और हृदय, ज्ञान और प्रेम, विज्ञान और धर्म का सम्मिलन ही मनुष्य को पूरा स्वास्थ्य दे सकता है।"

एक दिन आचार्यश्री ने एक कथा कही थी। किसी ने उनसे पूछा था कि जब जीवन से समस्त वासनायें क्षीण हो जाती हैं, तो वैसे व्यक्ति का जीवन कैसा होता है ? वे बोले थे कि ऊपर से देखने में तो कोई अंतर नहीं पड़ता है पर भीतर सब बदल जाता है। एक अर्थ में सब वही होता है, जो पहले था किन्तु दूसरे अर्थ में वह कुछ भी नहीं रह जाता है।

फिर थोड़ी देर चुप रहकर उन्होंने कहा था : 'एक सद्गुरु से यही बात किसी ने पूछी थी। उसने पूछने वाले को एक कपड़े का टुकडा और जलती हुई अग्नि लाने को कहा था और बाद में लाये गये कपड़े को जमीन में चार छोटी खूंटियों से बांधकर आग लगा दी थी। उस आग में कपड़ा तो जल गया था, लेकिन उसका ढांचा और बुनावट पूरी की पूरी पूर्ववत् ही शेष रह गई थी। अब कपड़ा नहीं भी था और था भी। ऐसा ही जीवनमुक्त का जीवन होता है। ज्ञानाग्नि में सब जल जाता है, बस राख का बना ढांचा ही शेष होता है।'

यह बात स्वयं उनके ही संबंध में कितनी सच है। जो उनकी जीवनचर्या को जानते हैं, उन्हें उसमें राख का ढांचा ही दिखाई पड़ेगा। एक सामान्यजन की भांति ही वे जीते हैं। बाहर किसी विशेषता को उन्होंने नहीं ओढा है। पर उन जैसा असामान्य जीवन खोजना कठिन है। वे जहां दिखाई पड़ते हैं, वहां बिल्कुल भी नहीं हैं। उनके उठने, बैठने, बोलने सबमें वे जहां हैं, वहां साथ ही नहीं भी हैं, शायद इस आंतरिक क्रांति को ही वे वास्तविक संन्यास कहते हैं।

हम रेत पर बैठे थे। ग्रीष्म की रात थी और आकाश में अत्यंत शुभ्र ज्योत्स्ना थी। बैठे बैठे हम सब रेत पर लकीरें खींचने लगे। आचार्यश्री ने कहा: "कितने लोग हैं, जो अपना जीवन रेत पर लकीरें खींचने में ही गवां देते हैं ?'

हमने सुना तो हमारे हाथ रुक गये। वे हंसने लगे और बोले : "इतने शीघ्र न कोई सुनता है और न रुकता है ? मनुष्य से अधिक बधिर और कौन

है ? और, स्वयं को ही स्वयं के विपरीत जाने से रोकने में भी मनुष्य बहुत असमर्थ है।"

फिर वे चांद को देखते रहे और बोले : "जीवन अनंत आलोक, आनंद और अमृत को पाने के लिये एक अवसर है, लेकिन हम उसे समय की रेत पर लकीरें खीचनें में ही व्यय कर देते हैं, यह खेल बहुत महंगा है और बहुत श्रम सें हम जो लकीरें खींच भी पाते हैं, वे हमारे उठते उठते ही रौंद दी जाती हैं और आंधियां उन स्थानों को पुनः साफ कर देंगी, ताकि दूसरों को अपनी लकीरें खींचने के लिये स्थान हो सके। जिन स्थानों पर तुमने लकीरें खींची और हस्ताक्षर किये हैं, उन स्थानों पर अनंत अनंत लोगों ने अपने हस्ताक्षर किये हैं, यह खेल बहुत स ातन है और जो लोग इस खेल की निद्रा से जागते हैं, वे ही केवल विजेता घोषित होते है। जो खेलते ही रहते हैं, वे हारते चले जाते हैं और जो जागते हैं और रुकते हैं वे जीत जाते हैं।

"मैं विचारों से पीड़ित हूं। पहले शायद ऐसा नहीं था लेकिन जबसे स्वयं के भीतर ध्यान दिया तबसे बहुत अशांति मालुम होती है। विचारों की असंगत-----व्यर्थ की गति से घबड़ा गया हूं। चौबीस घंटे ही चित्त की अशांत गतिविधि का बोध बना रहता है और कभी कभी तो शक होता है कि मैं कहीं पागल न हो जाऊं ? मुझे मार्ग बतायें----- बतायें कि मैं क्या करुं ? क्या न करुं ? इन विचारों से मुक्ति का क्या कोई उपाय नहीं है ?' एक वृद्धजन ने यह कहा है। निश्चय ही वे विचारों से पीड़ित मालुम होते हैं। उनका माथा गवाही है और उनकी आंखें गवाही हैं।

आचार्यश्री थोड़ी देर चुप रहे। ऐसी उनकी आदत है। अक्सर कुछ कहने के पूर्व वे चुप रह जाते हैं। जैसे कि उन मौन क्षणों में वे सामने वाले व्यक्ति में झांकते हों। शायद किसी आंतरिक तल पर वे संबंध बना लेते हैं तभी बोलते हैं। फिर धीरे धीरे वे कहने लगे : "यह बोध शुभ है। विचारोंकी व्यर्थता दिखाई पड़ती है। उनके आवागमन के कारण पैदा हुई अशांति अनुभव होती है। बहुतों को तो यह भी ध्यान में नहीं आता है। इस बोध के बाद निश्चय ही उनसे मुक्ति के लिये कुछ किया जा सकता है। साधारणतः जब तक मनुष्य प्रत्येक विचार की गति के साथ गतिमय होता रहता है, तब तक उसे विचारों से पैदा हो रही अशांति का अनुभव हीं नही होता है, लेकिन जब वह रुककर--- ठहरकर विचारों को देखता है तभी उसे उनकी सतत दौड़ और अशांति का प्रत्यक्ष होता है। विचारों से मुक्ति की दिशा में यह आवश्यक अनुभूति है। हम खड़े

होकर देखें तभी विचारों की व्यर्थ भागदौड़ का पता चल सकता है। निश्चय ही जो उनके साथ ही दौड़ता रहता है, वह इसे कैसे जान सकता है ? इसलिये ही मैंने कहा कि आपका बोध शुभ है और उससे घबड़ावें नहीं बल्कि प्रसन्न हों। लेकिन इतने पर ही रुक नहीं जाना है। अब विचारों की प्रक्रिया के प्रति एक अत्यंत निर्वैयक्तिक भाव को अपनावें—— एक मात्र दर्शक का भाव। जैसे देखने मात्र से ज्यादा आपका उनसे और कोई संबंध नहीं। और जब विचारों के बादल मन के आकाश को घेरें और गति करें तो उनसे पूछें : "विचारो ! तुम किसके हो ? क्या तुम मेरे हो ?" और आपको स्पष्ट उत्तर मिलेगा : "नहीं, तुम्हारे नहीं।" निश्चय ही यह उत्तर मिलेगा क्योंकि विचार आपके नहीं हैं। वे आपके अतिथि हैं। आपके मन को उन्होंने सराय बनाया हुआ है। उन्हें अपना मानना भूल है और वही भूल उनसे मुक्त नहीं होने देती है। उन्हें अपना मानने से जो तादात्म्य पैदा होता है, वही उन्हें विसर्जित नहीं होने देता है। ऐसे जो मात्र अतिथि हैं, वे ही स्थायी निवासी बन जाते हैं। विचारों को निर्वैयक्तिक भाव से देखने से क्रमशः उनसे संबंध टूटता है। जब कोई वासना उठे या कि कोई विचार तब ध्यान दें कि यह वासना उठ रही है या कि वह विचार उठ रहा है, फिर देखें और जानें कि अब वह अपने पूरे रुप में मन के समक्ष है, फिर जानें कि अब वह विलीन हो रहा है, अब विलीन हो चुका है, अब दूसरा विचार उठ रहा है, बन रहा है, बन गया है, विलीन हो रहा है, विलीन हो गया है। और इस भांति शांति से, अनुद्विग्न भाव से, दर्शक की भांति, साक्षी बनकर विचारों की सतत धारा का निरीक्षण करें। उनके प्रति कोई भी भाव न बनावें—— अच्छा या बुरा। उनके संबंध में कोई निर्णय न लें ——शुभ या अशुभ। बस देखें और निरीक्षण करें। इसी भांति शांत चुनाव रहित निरीक्षण से विचारों की गति क्षीण होती जाती है और अंततः निर्विचार समाधि उपलब्ध होती है। निर्विचार समाधि में विचार तो विलीन हो जाते हैं और विचारशक्ति का उद्भव होता है। उस विचारशक्ति को ही मैं प्रज्ञा कहता हूं। विचारशक्ति के जागरण के लिये विचारों से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है।"

मैं वृद्ध को देख रही हूं। सुनते सुनते ही उनके माथे का तनाव शिथिल हो गया है और उनकी आंखें शांत मालुम हो रही हैं। फिर उन्होंने एक गहरी श्वांस ली है, जैसे कि कोई भार हट गया हो और वे किसी संकल्प पर पहुंचे गये हों। अंततः उन्होंने कहा: "क्या मेरे लिये और कोई आज्ञा है ?"

आचार्यश्री बोले : "सत्य की खोज के मार्ग पर—— स्वयं की खोज के

मार्ग पर, दो सूत्र स्मरण रखने आवश्यक हैं। पहला: प्रारंभ करो और दूसरा : जारी रखो। इन दो स्वर्ण-सूत्रों का जो अनुगमन करता है, वह अवश्य ही गन्तव्य पर पहुंच जाता है।

सर्दियों की सुबह है। सूर्य की किरणें सुखद लग रही हैं। हम धूप में बैठे हैं और पक्षियों के गीत सुन रहे हैं। तभी कुछ लोग मिलने आ गये हैं। उनमें एक सन्यासी भी हैं। वे पूछते हैं: "क्या सत्य को पाने का कोई अत्यंत सरल और सुगम मार्ग नहीं है?"

आचार्यश्री ने उनसे कहा है: "जीवन का नियम है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य चुकाना होता है। बिना मूल्य कुछ भी नहीं मिलता। और फिर जितनी बहुमूल्य वस्तु हो उतना ही अधिक मूल्य भी चुकाना होता है। सत्य के लिये तो स्वयं को ही देना होता है। उससें कम मूल्य पर सत्य की प्राप्ति असंभव है। सत्य को पाना यानी स्वयं को खोना। लेकिन स्वयं को खोकर ही स्वयं की उपलब्धि भी होती है। जो स्वयं को बचाता है वह सत्य को तो खोता ही है, स्वयं को भी खो देता है। क्या आपको कभी यह अनुभव नहीं होता है कि मैं अभी वस्तुतः मैं नहीं हूं? जिस "मैं" को हम स्वयं मानकर चल रहे हैं यदि वह वास्तविक होता तो सत्य की खोज का प्रश्न ही नहीं था। वह सत्य नहीं है, इसीलिये तो सत्य को पाने की प्यास है। लेकिन स्वयं के भीतर किसी न किसी चेतन–अचेतन तल पर हमें सत्य का भी धुंधला अनभव हो रहा है, अन्यथा इस मैं को असत्य अनुभव करने का भी कोई कारण नहीं था। इस तथाकथित "मैं" को खोना होता है। उसके ही नीचे तो सत्य है। वह सत्य इस 'मैं' से ही आवृत है। स्वयं की सतह पर यह 'मैं' है। स्वयं की गहराई में वह 'मैं' है। स्वयं की आत्यंतिक गहराई में जो 'मैं' है, वही सत्य है, क्योंकि वह गहराई स्वयं की ही नहीं, सर्व का भी है। जो स्वयं के भीतर जितना गहरा जाता है, वह सर्व के भीतर भी उतना ही गहरा पहुंच जाता है। स्वयं के केन्द्र पर ही सत्य का, परमात्मा का वास है। मित्र, केन्द्र को पाने के लिये परिधि को खोना ही पड़ता है। इस मूल्य को चुकाये बिना कोई मार्ग नहीं। और यह मूल्य चुकाना सर्वाधिक कठिन तप है क्योंकि स्वयं को खोने से अधिक कठिन और क्या हो सकता है"?

रात्रि पड़ौस में कोई मर गया है। सुबह ही आचार्यश्री को खबर दी। वे बोले: "मृत्यु तो निश्चित है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी निश्चित नहीं है। जन्म में ही मृत्यु छिपी है। जो इस सत्य को नहीं जानता है वह जीवन

को व्यर्थ ही खो देता है और जो इस सत्य को जान लेता है उसका जीवन अमृत को उपलब्ध हो जाता है।"

हम चुपचाप बैठे रहे। आचार्य श्री पुनः कहने लगे : "मैं मृत्यु से नहीं, लेकिन किसी के जीवन को व्यर्थ जाते देख, जरुर ही दुखी होता हूं। वही वास्तविक मृत्यु है। शरीर का अंत नहीं, जीवन का व्यर्थ जाना ही वस्तुतः मृत्यु है।"

फिर उन्होंनें एक बोधकथा कही : "राजा जनक को विदेह कहा जाता था। किसी दिन उनके एक युवक आयात्य ने पूछा : 'महाराज, आप देह रहते विदेह कैसें हैं ?' 'जनक हंसे और चुप रह गये। कुछ दिनों बाद उन्होंनें उस युवक को भोजन पर आमंत्रित किया। यह सौभाग्य मुश्किल से ही किसी को मिलता था। उस युवक की खुशी का ठिकाना नहीं था। लेकिन दूसरे दिन उसके विषाद का भी अंत न रहा, जब उसने भोजन के लिये राजमहल जाते समय चौराहे पर ढिंढोरी सुनी कि उसी दिन संध्या किसी राज अपराध के लिये उसे फांसी दी जाने वाली है। यह कैसा उपहास : दोपहर राजमहल में आतिथ्य और संध्या राजाज्ञा से मृत्यु ! वह फिर भी किसी भांति भोजन को गया। राजा ने रसोईयों को कहा था भोजन में नमक बिल्कुल भी न डाला जावे। भोजन के समय जनक स्वयं उपस्थित थे और बहुत प्रेम से उन्होंने युवक को भोजन कराया। वह युवक भोजन तो करता रहा, लेकिन मन उसका वहां उपस्थित नहीं था। होता भी कैसे ? एक एक क्षण बीत रहा था और मृत्यु निकट रही थी। राजा ने भोजनोपरांत पूछा : "बन्धु, भोजन में किसी प्रकार की कमी तो न थी ?" वह युवक आयात्य जैसे निद्रा से जागा और बोला : "भोजन ? हाँ, भोजन मैंने किया तो, पर स्मरण नहीं है। मृत्यु के भय ने स्वाद छीन लिया है ——सुधि भी छीन ली है। मैं जहां हूं, वहां नहीं हूं।" राजा जनक यह सुन हंसने लगे थे और कहा था कि "यह आपके प्रश्न का उत्तर है। घबड़ायें नहीं। संध्या आपको मरना नहीं है। यह सब मेरी योजना थी। मृत्यु जिसे दीखती है, वह देह रहते भी विदेह हो जाता है और जो विदेह हो जाता है उसके लिये मृत्यु विलीन हो जाती है। वैसी चेतना में व्यक्ति उसको उपलब्ध हो जाता है जो कि अमृत है।"

रात्रि के सन्नाटे में हम आचार्य श्री के निकट बैठे हैं। बाहर घनांधकार है। भीतर धीमी सी रोशनी जल रही है और धूप का धुंआं उठ कर वातावरण को सुवास से भर रहा है। हम जहां बैठे हैं, वह एक छोटे से गांव का छोटा सा मंदिर है।

किसी ने पूछा है : "क्या ज्ञान की खोज में किसी को गुरु बनाना आवश्यक है ?"

आचार्यश्री ने कहा : "नहीं। किसी को नहीं, सभी को गुरु बनाना आवश्यक है, आंखें खुली हों और सीखनें को मन मुक्त और सहज हो तो सारा जगत् ही गुरु है।"

फिर थोड़ी देर वे चुप रहे और पुनः कहने लगे : "संत मलूक ने कहा है कि उन्हें एक शराबी, एक छोटे से बालक और प्रेम में पागल एक युवती के समक्ष बहुत लज्जित होना पड़ा था। पर फिर तीनों ये उनके गुरु भी बन गये थे। उन तीनों घटनाओं का बडा मधुर इतिहास है। एक दिन एक शराबी नशे में चूर लड़खड़ाता जा रहा था। मलूक ने उससें कहा "मित्र, पांव सम्हालकर रखो, देखो कहीं गिर न जाना।" शराबी जोर से हंसने लगा। उत्तर में बोला : "भले मानस ! पहले अपने पैर तो सम्हाल ! मैं गिरा भी तो शरीर धोने भर से साफ हो जाऊंगा लेकिन तू गिरा तो शुद्धि कठिन है !" मलूक ने सुना और सोचा तो पाया कि बात ठीक ही थी। दूसरी बार एक बालक दिया लिये जा रहा था। मलूक ने उससे पूछा : "यह दिया कहां से लाये हो ?" इतने में ही हवा का एक झोंका आया और दिये को बुझा गया। वह बालक बोला : "अब तुम्हीं पहले बताओ कि दिया कहां चला गया है ? तब मैं बताऊं कि दिया कहां से लाया था ?" मलूक ने अपना अज्ञान जाना और पहचाना और ज्ञान के भ्रम को बिदा दे दी। तीसरी घटना ऐसी हुई कि एक युवती अपने प्रेमी को ढूंढती हुई मलूक के पास आई। उसके वस्त्र अस्त व्यस्त थे और उसने घूंघट भी नहीं निकाला था। मलूक उसे इस प्रकार निर्लज्ज देखकर बोले : "पहले अपने कपडे तो सम्हाल, मुंह तो ढक, फिर जो कहना हो सो कहना" वह युवती बोली: "बंधु, मैं प्रभु के हाथों रचे एक प्राणी के प्रेम में मुग्ध होकर बेहोश हो रही हूँ। मुझे अपनी देह का भी भान नहीं रहा है और आप मुझे सचेत न कर देते तो मैं ऐसे ही उसे खोजने, बाजार में भी निकल जाती। पर यह कितने आश्चर्य की बात है कि प्रभु के प्रेम में पागल होकर भी आपको इतनी सुधि है कि आप यह जान गये कि मेरा मुख खुला है या ढंका, और वस्त्र मेरे सुव्यवस्थित हैं या नहीं। प्रभु में लगी दृष्टि क्या यह सब भी जान सकती है ?" मलूक जैसे नींद से जागे और देखा कि निश्चय ही जो क्षुद्र को देख रहा है, उसके समक्ष विराट कैसे हो सकता है।"

हम प्रवास में थे। दोपहर थी ! कुछ लोग आचार्यश्री से कह रहे थे

कि हम स्वयं तो कुछ कर नहीं सकते हैं। गुरु कृपा हो या प्रभु कृपा हो तो ही कुछ हो सकता है। हम स्वयं तो अज्ञानी हैं और शक्तिहीन हैं। क्या हम भी प्रभु को पाने की आशा कर सकते हैं?

आचार्यश्री उनकी बातें सुनकर हंसने लगे और बोले : "एक कहानी सुनो। एक बादशाह किसी युद्ध में हार गया था। अभी अभी उसे हारने की खबर दी गई थी। खबर सुनते ही उसका खून सूख गया था और आंखों की रोशनी खो गई। उसे सब ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत हो रहा था। अपने महल में वह ऐसे बैठा था जैसे कि कब्रिस्तान में बैठा हो। तभी उसकी रानी उसके पास आई। उसने पूछा कि महाराज इतने उदास क्यों हैं? राजा से कुछ कहते भी नहीं बन रहा था। किसी भांति उसने कहा : "बहुत बुरी खबर है। युद्ध में मेरी सेना हार गई है। मैं पराजित हो गया हूं।" यह सुन, रानी ने कहा : "यह खबर तो मुझे भी ज्ञात है लेकिन मेरे पास तो इससे भी बुरी खबर है।" राजा ने कहा "इससे भी बुरी? इससे भी बुरी खबर और क्या हो सकती है?" रानी ने कहा : "महाराज! आप युद्ध हार गये हैं लेकिन युद्ध पुनः जीता जा सकता है। पर मैं तो देख रही हूं कि आप साहस भी हार चुके हैं। वह हार बड़ी कि यह? वह खबर ज्यादा बुरी कि यह? निश्चिय ही साहस खोने से बडी और कोई पराजय नहीं है। जो उसे खो देता है, वह तो भविष्य ही खो देता है।"

एक विचारक आये हैं। पहले भी कई बार आ चुके हैं। ईश्वर पर निरंतर ही उनका चिन्तन चलता रहता है। बहुत से शास्त्रों के अध्येता हैं और बातें करने में कुशल हैं। आचार्य श्री हमेशा ही उनसे कहते हैं कि मात्र विचार करते रहने का कोई मूल्य नहीं है। बातचीत का मूल्य हो भी क्या सकता है? फिर वह बातचीत चाहे दूसरों से हो या कि स्वयं से। शब्द को सत्य मत मान लेना। सत्य की खोज मात्र शब्द से नहीं, वरन् समग्र जीवन से ही करनी होती है। आज भी कुछ ऐसी ही बातें चल पड़ी हैं। आचार्यश्री एक कथा कहते हैं : "एक कवि ने किसी सम्राट के दरबार में उसकी प्रशंसा में बहुत गीत गाये। बडे सुंदर उसके शब्द थे और बडी मोहक उसकी शैली थी। सम्राट खूब प्रसन्न हुआ और उसने अपने अमात्य को कहा कि महाकवि को कल पुरस्कार में ५ हजार स्वर्ण मुद्रायें भेंट की जायें। कवि स्वयं को महाकवि मानकर आनंदित हो अपने झोपड़े में लौटा। आज उसके पैर भूमि पर नहीं पड़ते थे। ५ हजार स्वर्ण मुद्राओं ने उसके सोये स्वप्नों को जगा दिया था।

रात्रि भर वह सो भी नहीं सका। बहुत कल्पनायें बनी और मिटीं। बहुत योजनायें उसके समक्ष थीं। बस कल की ही प्रतीक्षा थी! किसी भांति बडी कठिनाई से रात्रि बीती। लेकिन मन ही मन मुद्रायें गिनने का काम चलता ही था। सुबह होते ही वह राज दरबार पहुंच गया। सम्राट उसे देख हंसने लगा और बोला : "क्या चाहते हैं? कैसे आना हुआ?" कवि हैरान हुआ। चिन्तित हो बोला : "क्या आप भूल गये? आपने ५ हजार स्वर्ण मुद्रायें देने का आश्वासन दिया था?" सम्राट ने कहा : "बहुत भोले हैं आप। बातों से आपने मुझे खुश किया था। सो मैंने भी बात ही बात में आपको खुश कर दिया था। लेने देने की इसमें क्या बात है?" यह कथा कहकर आचार्यश्री हंसने लगे और बोले : "ऐसी ही स्थिति हमारे और प्रभु के बीच है। विचार नहीं, जीवन का ही प्रतिफल और पुरस्कार मिलता है।"

"विचार भी सीखना होता है। संभवतः सबसे सूक्ष्म विज्ञान वही है। स्मरण रहे कि विचारों को इकट्ठा कर लेना एक बात है, विचार की शक्ति को उपलब्ध करना बिल्कुल दूसरी। लेकिन, विचार संग्रह को विचार शक्ति समझ लिया जाता है। संग्रह शक्ति नहीं है। उस भांति तो केवल शक्ति का अभाव दब जाता और आंखों से ओझल हो जाता है। यह आत्मवंचना बहुत घातक है। फिर भी यह भ्रांति बहुत गहरी और व्यापक है। इसका ही परिणाम है कि विचार तो जगत् में बढते जातें हैं लेकिन विचार की शक्ति क्षीण होती जाती है। विचारशील व्यक्ति दिखाई पड़ने बंद ही हो गये हैं।"

सुबह ही सुबह आचार्यश्री ने उपरोक्त शब्द कहे। हम सब घूमकर लौटते थे। किसी ने विचार के संबंध में कुछ पूछा, तभी उन्होंने यह कहा।

मैंनें पूछा : "क्या हमारे विद्यालय विचार नहीं सिखाते हैं?" वे हंसने लगे और बोले : "विचार याद कराते हैं, लेकिन विचार करना? नहीं, विचार करना नहीं सिखाते हैं। विचार को बाहर से डालना मात्र स्मृतिको भरना है। विचार को भीतर से जगाना ज्ञान है। विचार की शक्ति प्रत्येक में प्रसुप्त है। उसे दूसरों के विचारों से भरना नहीं वरन् उघाडना और आविष्कृत करना है। हम सब निरंतर विचारों से भरे हैं लेकिन कोई यदि पूछे कि क्या आप कभी विचार करते हैं? तो शायद सचाई यही होगी कि हमें हकार करना होगा। बहुत कम व्यक्ति हैं, जो कि विचार करते हैं। वस्तुतः तो अधिकांश को ज्ञात ही नहीं है कि उनमें विचार की क्षमता भी है! और ज्ञात होगा भी कैसे? हम केवल उन्हीं क्षमताओं के प्रति सचेत हो पाते हैं जिनका कि हम उपयोग करते हैं।

सक्रिय उपयोग से ही क्षमतायें वास्तविकताओं में परिणित होती हैं। निष्क्रिय पडीं क्षमतायें सहज ही विस्मरण हो जावें तो कोई आश्चर्य नहीं है। विचार शक्ति ऐसी ही निष्क्रिय पडी शक्ति है। साधारणतः हम स्वचालित यंत्रों की भांति प्रतिक्रिया करते हैं और विचार का कोई उपयोग ही नहीं होता है। बाहर से आई उत्तेजनायें हमें यंत्रवत् चालित कर देती हैं और उत्तेजना-प्रतिक्रिया के मध्य विचार के लिये कोई अवकाश ही नहीं छूटता है। क्या ऐसाही नहीं है? क्या तुम्हारे चित्त से टकराती उत्तेजनाओं और तुम्हारी प्रतिक्रियाओं के मध्य में विचार को स्थान होता है? क्या किसी के द्वारा अपमानित किये जाने और क्रोधान्वित होने के मध्य विचार होता है? यदि नहीं, तो फिर तुम्हें विचार की शक्ति का न बोध है, न तुम्हारे जीवन में उसका कोई स्थान ही है। विचार का अर्थ है कि प्रत्येक प्रतिक्रिया सचेतन हो। अचेतन प्रतिक्रिया अविचार है। सचेतन प्रतिक्रिया ही भीतर विचार की सक्रिय शक्ति की सूचना बनती है। विचारशील व्यक्ति किसी भी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करने के पूर्व विचारेगा कि वह क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है? वह अपने भीतर चित्त की गति के प्रति जागरुक होगा और अपने कर्म के प्रति अमूर्च्छित। वह जो भी करेगा होश में करेगा। उसके समस्त कर्मों के पीछे जागरुकता होगी। वह बाह्य उत्तेजनाओं के हाथों में यंत्र नहीं बनेगा। वह अपनी चेतना खोकर किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा। वस्तुतः वह व्यक्ति होगा— ठीक अर्थों में व्यक्ति जो मूर्छित है, उसे व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। यदि इसके विपरीत होता है तो जानना चाहिये कि विचार का अभाव है और अभी उस शक्ति का आविर्भाव नहीं हुआ है जो कि स्वयं से परिचित कराती है और यांत्रिक परतंत्रता से मुक्त करती है।"

एक छोटे से गांव में हम ठहरे हुये हैं। बहुत लोग मिलने आये हैं। भिन्न भिन्न उनके प्रश्न हैं। पर प्यास तो सबकी एक ही है। सभी जीवन के अर्थ को पाना चाहते हैं। जैसा जीवन है वह व्यर्थ प्रतीत होता है। आचार्यश्री ने कहा : "जीवन में उतना ही अर्थ आता है, जितना हम स्वयं उसमें डालते हैं। अर्थ है नहीं, निर्मित करना होता है। जो निष्क्रिय रुप से अर्थ पाने के विचार में हो, वह निष्फल ही रहेगा। उसकी आकांक्षा पूरी नहीं हो सकती है। जीवन की सार्थकता निष्क्रिय उपलब्धि नहीं वरन् सृजनात्मक श्रम की ही निष्पत्ति है।"

मिलने वालों में एक मूर्तिकार भी हैं. उन्होंने कहा : "मैं मूर्तियां बनाता हूं। सृजन करता हूं फिर भी किसी गहरी संतुष्टि को उपलब्ध नहीं हूं. मैं क्या करूं?"

आचार्यश्री ने एक क्षण बहुत गहरे उन्हें देखा और कहा: "वस्तुओं का निर्माण वास्तविक सृजन नहीं है। वास्तविक सृजन तो स्वयं का सृजन है। पत्थरों को मूर्तियों में बदलना, स्वयं को दिव्यता में बदलने से बहुत सरल बात है। पत्थरों से बहुत कठिन और कठोर यह स्वयं का व्यक्तित्व है। इससे अधिक कठोर और कोई पाषाण नहीं है। स्वयं के पाषाण को ही आकार और अर्थ देना वास्तविक सृजनात्मकता है। संतुष्टि इससे ही निष्पन्न होती है। आनंद इससे ही प्रवाहित होता है। तुम पूछते हो: "मैं क्या करूं?" इस स्वयं के ही पत्थर पर अब तुम प्रयोग करो। मूर्तियां बहुत बनाई। अब स्वयं को ही बनाओ. कवि शब्दों में सौन्दर्य डालते हैं। चित्रकार रंगों को सजीव करते हैं। मूर्तिकार पत्थरों में प्राण को प्रतिष्ठा देते हैं, पर जो स्वयं को सौन्दर्य और जीवन देने में सफल हो जाता है, उससे बडा सर्जक और कोई भी नहीं है। जीवन से बडी और कोई कला नहीं है."

रात्रि बीत गई है। हम विदा होने को हैं। गांव के लोग विदा देने एकत्रित हो गये हैं.

एक युवक पूछता है: "मैं बहुत दुखी और चिन्तित हूं। कारण खोजता हूं, तो स्पष्टतः कुछ समझ में नहीं आता। अपनी परिस्थितयों से ऊब गया हूं। इन्हें बदलना चाहता हूं। शायद नई परिस्थितियों में बदल हो जावे और मैं शांति पा सकूं?"

आचार्यश्री. ने कहा: "सुख या दुख बाह्य घटनायें नहीं हैं। बाहर जो है उससे कोई सुखी या दुखी नहीं होता। बाहर तो मात्र तथ्य हैं। उनमें न सुख है, न दुख, सुख और दुख तो उनके प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं में छिपे होते हैं। वस्तुतः तथ्यों की कोई महत्ता नहीं है। महत्ता है उनके प्रति हमारे रूख की------उनके प्रति हमारी दृष्टि की। हमारी दृष्टि पर ही सब निर्भर होता है। तथ्य नहीं, व्यक्ति महत्वपूर्ण है। वह जो तुम्हारे पास है, वह नहीं, तुम जो हो वही अंततः निर्धारक है। सुख या दुख हममें बैठे हुये हैं। इपिक्टेक्ट्स का वचन है। "यदि कोई मनुष्य दुखी हो तो वह जाने कि वह अपने ही कारण वैसा है." यही मैं तुमसे कहता हूं। मित्र, कोई और नहीं हम ही कारण हैं, जो भी हम हैं, उसके लिये हम ही कारण हैं। इस सत्य को ठीक से समझना, क्योंकि इस समझपर ही जीवन का परिवर्तन निर्भर करता है। दुख हो तो जानो कि दृष्टि में कोई भूल है। दुखी जीवन भ्रांत दृष्टि का ही परिणाम होता है। और सुखी जीवन सम्यक् दृष्टि का। परिस्थिति को बदलकर भी मन-स्थिति वही रही तो

बहुत भेद नहीं पडता है। स्मरण रखना कि जब दुख हो तो स्वयं में ही कारण खोजना———बाहर नहीं। स्वयं में ही दोष देखना———अन्य में नहीं। और तब क्रमशः तुम्हें अपनी ही प्रतिक्रियाओं में छिपे कारण मिलने लगेंगे और एक नये जीवन का प्रारंभ हो जावेगा। जो बाहर दोष देखता है, वह भटक जाता है और जो दोष स्वयं में खोजता है, वह उनके अतिक्रमण में निश्चय ही सफल होता है।"

पूर्णिमा की रात है। नदी पर रेत में हम बैठे हैं। आचार्यश्री कभी कभी अपने से ही कुछ कहने लगते हैं। निश्चय ही हमारे भीतर छिपी किसी प्यास का ही वह उत्तर होता है। शायद हमें भी जिस प्यास का पता नहीं है, उसे भी वे अवश्य ही जानते हैं।.

उन्होंने आज अनायास ही कहना शुरू किया: "मैं जगत् में विचार का ह्रास होते देखता हूं। विचार से मेरा अर्थ विचारों से नहीं है। विचारों की तो बाढ आई हुई है और विचार उस बाढ में बिल्कुल ही डूब गया है। विचारों में, विचार को डूबने से बचाना है."

हममें से किसी ने पूछा: "विचार से आपका क्या अभिप्राय है? क्या अर्थ है?"

"विचार का क्या अर्थ है? विचार का अर्थ है यह जानना कि क्या क्षणिक है और क्या शाश्वत है? क्या मर्त्य है और क्या अमृत है? क्या वस्तुतः नहीं है और क्या वस्तुतः है? जो विचारहीन हैं, वे क्षणिक के पीछे जीवन को व्यय कर देते हैं और जिनका विचार जाग्रत है वे क्षणिक को नहीं, शाश्वत को खोजते हैं, क्योंकि जो क्षणिक है वह है ही नहीं, जो शाश्वत है वस्तुतः वही है। और 'जो है' उसमें ही जीवन है, 'जो नहीं है' उसमें तो केवल अपव्यय है और मृत्यु है। विचारहीन स्वप्न के पीछे भागते हैं और स्वप्नों के लिए निद्रा आवश्यक है, इसलिये वे सब भांति की मूर्च्छाओं को खोजते हैं। मूर्च्छा की खोज अविचार का लक्षण है। विचारशील सत्य का अनुसन्धान करते हैं। निश्चय ही अनुसन्धान के लिये भागना नहीं, रूकना आवश्यक है और सोना नहीं जागना जरूरी है। इसलिये वे अमूर्च्छा को साधते हैं और निद्रा को तोडते हैं. अमूर्च्छित जीवन विचार का प्रतीक है। अमूर्च्छा विचार है."

फिर थोडी देर बाद उन्होंने एक घटना बताई :

"सिद्धार्थ गौतमी के द्वार से निकल रहे थे। उन्हें देखकर गौतमी ने कहा: 'धन्य है वह माता जिसका ऐसा पुत्र है, धन्य है वह पिता जिसका ऐसा

प्रतिबिम्ब है और धन्य है वह पत्नी जिसका ऐसा स्वामी है !' सिद्धार्थ ने सोचा: "यह धन्यता और आनंद तो क्षणिक है। लेकिन क्या ऐसी भी कोई धन्यता है जो कि क्षणिक न हो? क्या ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जिससे कि शाश्वत धन्यता मिल सके, और मिल सके अक्षय शांति और आनंद ? क्योंकि जो आज है और कल नहीं है वह वस्तुत: आज भी नहीं है।" इसे मैं विचार कहता हूं–इसे मैं बोध कहता हूं–इसे मैं विवेक कहता हूं। और जहां विचार है, वहां द्वार भी है। सिद्धार्थ के हृदय में विचार की बिजली कौंधी तो उन्हें स्पष्ट दिखाई दिया कि जब तक वासना है तब तक शांति कैसे संभव है? तृष्णा की अग्नि जब तक प्रज्वलित है तब तक सत्य की शीतलता को कैसे पाया जा सकता है? विचार से द्वार मिलता है और द्वार मिले तो स्वयं में सोई हुई चेतना गन्तव्य की ओर गति भी करती है। सिद्धार्थ के हृदय में एक अभिनव संकल्प सघन हो गया: "मैं तृष्णा की आग को बुझाकर उसे जानूंगा जो कि सत्य है। मैं क्षण के जीवन से जागकर उससे दर्शन करूंगा जो कि शाश्वत है।" उन्होंने अपने गले का बहुमूल्य हार उतारकर गौतमी को गुरूदक्षिणा दी. उनके जीवन में निश्चय ही एक मोड आ गया था. विचार से मोड आता है और विचार से क्रांति आती है। सोचो: क्या तुम्हारे भीतर विचार है?"।

प्रवचन सार

आ. रजनीश

प्रेम ही प्रभु है

मैं मनुष्य को रोज विकृति से विकृति की ओर जाते देख रहा हूं, उसके भीतर कोई आधार टूट गया है, कोई बहुत अनिवार्य जीवन स्नायु जैसे नष्ट हो गये है, और हम संस्कृति में नहीं, विकृति में जी रहे है।

इस विकृति ओर विघटन के परिणाम व्यक्ति से समष्टि तक फैल गये है, परिवार से लेकर पृथ्वी की समग्र परिधि तक उसकी बेसुरी प्रतिध्वनियां सुनाई पड़ रही है। जिसे हम संस्कृति कहे. वह संगीत कही भी सुनाई नहीं पड़ता है।

मनुष्य के अन्तस् के तार सुव्यवस्थित हों तो वह संगीत भी हो सकता है। अन्यथा उससे बेसुरा कोई वाद्य नहीं है।

फिर जैसे झील में एक जगह पत्थर के गिरने से लहर वृत दूर कूल किनारों तक फैल जाते हैं, वैसे ही एक मनुष्य चित्त में उठी हुई संस्कृति या विकृति की लहरें भी सारी मनुष्यता के अन्तस्थल में आन्दोलन उत्पन्न करती है। मनुष्य जो व्यक्ति मालूम होता है, एकदम व्यक्ति ही नहीं हैं, उसकी जड़ें समष्टि तक फैली हुई है और इसलिए उसका रोग या स्वास्थ्य बहुत संक्रामक होता है।

हमारी सदी किस रोग से पीड़ित है? बहुत से रोग गिनाये जाते हैं। मैं भी एक रोग की और इशारा करना चाहता हूं और मेरी दृष्टि में शेष सारे रोगों की जड़ में वही रोग है। शेष रोग उस एक मूल रोग के ही परिणाम है। मनुष्य जब भी इन मूल रोग से ग्रसित होता है, तभी वह आत्मघात और विनाश में लग जाता है

उस मूल रोग को मैं क्या नाम दूँ? उसे नाम देना आसान नहीं है। फिर भी मैं कहना चाहूंगा कि वह रोग है मनुष्य हृदय में प्रेम स्रोत का सूख जाना। हम प्रेम के अभाव से पीड़ित हैं। हमारे हृदय की धड़कनों में हृदय नहीं है और केवल फेफड़े ही धड़क रहे हैं।

प्रेम के अभाव से ही बड़ी दुर्घटना और दुर्भाग्य मनुष्य के जीवन में दूसरा नहीं है। क्योंकि तब वह जीता है किन्तु जीवन से उसके संबंध विच्छिन्न हो जाते हैं। प्रेम हमें समग्र से जोड़ता है। प्रेम के अभाव में हम सत्ता से प्रथक और अकेले हो जाते हैं। आज का मनुष्य अपने को अकेला और अजनवी अनुभव करता है, वह इस कारण ही। प्रेम के बिना निश्चय ही प्रत्येक अकेला है। प्रेम के अभाव में प्रत्येक स्वयं में बन्द अणु है। जिससे दूसरे तक न कोई द्वार है, न सेतु है। आज ऐसा ही हुआ है। हम सब अपने में बन्द है। यह अपने में बन्द होना अपनी अपनी कब्रों में होने से भिन्न नहीं है और हम जीते जी मुर्दे हो गये हैं।

क्या जो मैं कह रहा हूं, उसका सत्य आपको दिखायी नहीं पड़ता है?

क्या आप जीवित है, और अपने भीतर प्रेम की शक्ति का प्रवाह आपको अनुभव होता है? यदि, वह प्रवाह आपके रक्त में नहीं है और उसकी धड़कने दृश्य में शून्य हो गयी है, तो समझे की आप जीवित नहीं हैं।

प्रेम ही जीवन है और प्रेम के अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं है।

मैं एक यात्रा में था। वहां किसी ने पूछा था: मनुष्य की भाषा में सबसे मूल्यवान शब्द कौनसा है। मैंने कहा था–'प्रेम'। तो पूछनेवाले मित्र चौके थे। उन्होंने सोचा होगा कि मैं कहूंगा 'आत्मा या परमात्मा'। उनकी अपेक्षा भी स्वाभाविक ही थी। किन्तु उनकी उलझन को देखकर मुझे हंसी आ गयी थी और मैंने कहा था : 'प्रेम ही प्रभु है'।

निश्चय ही इस पृथ्वी पर जो अनुभव पृथ्वी का नहीं है, वह प्रेम है। मन शरीर तक जो किरण शरीर मन के पार से आती है, वह किरण प्रेम की हैं।

प्रेम संसार में अकेली ही अपार्थिव घटना है। वह अद्वितीय है, मनुष्य का सारा दर्शन सारा काव्य, सारा धर्म उससे ही अनुप्रेरित है। मानवीय जीवन में जो श्रेष्ठ और सुन्दर है, वह सब प्रेम से ही जन्म और जीवन पाता है।

इसलिए मैं कहता हूं कि प्रेम ही प्रभु है। प्रेम की किरण के सहारे ही प्रभु के आलोकित लोक तक पहुंचा जाता है। प्रभु को सत्य कहने से भी ज्यादा प्रीतिकर उसे प्रेम कहना है। प्रेम में जो रस, जो जीवन्तता, संगीत और सौंदर्य है, वह सत्य में नहीं है। सत्य में वह निकटता नहीं है, जो प्रेम में है। सत्य जैसे जानने की ही बात है, प्रेम होने की भी।

प्रेम का विकास और पूर्णता ही अन्ततः प्रभु प्रवेश में परिणत हो जाती है। मैंने सुना है कि आचार्य रामानुज से किसी व्यक्ति ने धर्म जीवन में दीक्षित किये जाने की प्रार्थना की थी। उन्होंने उससे पूछा था कि: 'मित्र, क्या तुम किसी को प्रेम करते हो?' वह बोला था: "नहीं; मेरा तो किसी से प्रेम नहीं है। मैं तो प्रभु को पाना चाहता हूं।" यह सुनकर रामानुज ने दुखी हो उससे कहा था, 'फिर मैं असमर्थ हूं। मैं तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकता हूं। प्रेम तुम्हारे भीतर होता तो उसे परिशुद्ध कर प्रभु की ओर ले जाया जा सकता था। लेकिन तुम तो कहते हो कि वह तुममें है ही नहीं'–?

प्रेम का अभाव सबसे बड़ी दरिद्रता है जिसके भीतर प्रेम नहीं है वह दीन है। वैसा व्यक्ति अपने हाथों नरक में है। श्वास–श्वास का प्रेम से परिपूरित हो जाना ही मैंने स्वर्ग जाना है। वैसा व्यक्ति जहां होता है, वहां स्वर्ग होता है।

मनुष्य अद्भुत पौधा है। उसमें विष और अमृत दोनों के फूल लगने की संभावना है। वह स्वयं के चित्त यदि घृणा को और अप्रेम से परिपोषित करे तो विष के फूलों को उपलब्ध हो जाता है और वह चाहे तो प्रेम को स्वयं में जगाकर अमृत के फूलों को पा सकता है।

मैं सबकी सत्ता से स्वयं को प्रथम और विरोधी मानकर अपने जीवन को ढालूं तो परिणति अप्रेम में फलित होगी। ऐसा जीवन ही अधार्मिक जीवन है। वह असत्य भी है। क्योंकि वस्तुतः हमारा होना सागर पर लहरों के होने से भिन्न नहीं है। विश्व सत्ता से कोई सत्तावान प्रथक नहीं है। सबके प्राणों का आदि स्रोत उसी केन्द्र में है। उससे चाहे तो हम किसी नाम से पुकारें। नामों से कोई भेद नहीं पड़ता। सत्ता एक और अद्वय है।

और यदि मैं अपने जीवन को सर्व के विरोध में नहीं, वरन् सर्व के स्वीकार और सहयोग में ढालूं तो परिणाम में प्रेम फलित होता है। प्रेम इस

बोध का परिणाम है कि में सर्व सत्ता से प्रथक और अन्य नहीं हूं। मैं उसमें हूं और वह मुझमें है। ऐसा जीवन धार्मिक जीवन है।

एक सूफी कथा मुझे स्मरण आती है।

किसी प्रेमी ने अपनी प्रेयसी के द्वार को खटखटाया। भीतर से पूछा गया 'कौन है?' उसने कहा 'मैं हूं, तुम्हारा प्रेमी।' .प्रत्युतर में उसे सुन पड़ा–'इस घर में दो के लायक स्थान नहीं है।' बहुत दिनों बाद वह पुनः उसी द्वार पर लौटा, उसने फिर द्वार खटखटाया। फिर वह प्रश्न कि कौन है? इस बार उसने कहा कि– 'तू ही है।' और ये बन्द द्वार उसके लिए खुल गये थे।

प्रेम के द्वार केवल उसके लिए ही खुलते हैं, जो अपने 'मैं' को छोड़ने को तैयार हो जाता है। किसी एक व्यक्ति के प्रति यदि कोई अपने 'मैं' को छोड़ देता है तो लोक में उसे प्रेम कहते है और जब कोई सर्व के प्रति अपने 'मैं' को छोड़ देता है, तो वही प्रेम बन जाता है। वैसा प्रेम ही भक्ति है।

प्रेम काम (Sex)नहीं है। जो काम को ही प्रेम समझ लेते हैं, वे प्रेम से वंचित रह जाते हैं। काम प्रेम का आभास और भ्रम है। वह प्रकृति का सम्मोहन है। उस सम्मोहन के यांत्रिक माध्यम से संतति उत्पादन का अपना व्यापार चलाती है। प्रेम का आयाम उससे बहुत भिन्न और बहुत ऊपर है। वस्तुतः प्रेम जितना विकसित होता है, काम उतना ही विलीन होता है। वह उर्जा जो काम में प्रकट होती है, उसका संपरिवर्तन प्रेम में हो जाता है। प्रेम उस शक्ति का ही सृजनात्मक ऊर्ध्वीकरण है और इसलिए जब प्रेम पूर्ण होता है, तो काम-शून्यता अनायास ही फलित हो जाती है। प्रेम के ऐसे जीवन का नाम ही ब्रह्मचर्य है। काम से जिसे मुक्त होना हो, उसे प्रेम को विकसित करना चाहिए। काम के दमन से कभी कोई काम से मुक्त नहीं होता। उससे मुक्ति तो केवल प्रेम में ही है।

मैंने कहा––'प्रेम प्रभु है।' यह अंतिम सत्य है। अब यह भी कहने दें कि प्रेम ही परिवार है। यह प्रथम सीढ़ी है। और स्मरण रखे कि प्रथम के अभाव में अंतिम का कोई आधार नहीं है।

प्रेम से परिवार बनता है। और प्रेम के विकास से परिवार बड़ा होता जाता है। फिर जब उस परिवार के बाहर कुछ भी नहीं रह जाता है, तो वही प्रभु हो जाता है।

प्रेम के अभाव में मनुष्य निपट निजता के अभाव में रह जाता है। उसका कोई परिवार नहीं होता है। वह 'स्व' रह जाता है और 'पर' से 'उसका कोई

सेतु नहीं रह जाता – यह क्रमिक मृत्यु है, क्योंकि जीवन तो पारस्परिकता में है, जीवन तो संबंधों में है ।

प्रेम में 'स्व' और 'पर' का अतिक्रमण है और जहां न 'स्व' है, न 'पर' है, वही सत्य है।

सत्य के लिए जो प्यासे है उन्हें प्रेम साधना होगा। उस क्षण तक जब तक कि प्रेमी और प्रिय न मिट जाये और केवल प्रेम ही शेष न रह जाये। प्रेम की ज्योति जब विषय और विषयी के धूंए से मुक्त हो निर्धूम जलती है, तभी मोक्ष है। तभी निर्वाण है।

मैं उस परम मुक्ति के लिए सभी को आमंत्रित करता हूं।

नीति, भय और प्रेम

मैं सोचता हूं कि क्या बोलूं? मनुष्य के सम्बन्ध में विचार करते ही मुझे उन हजार आंखों का स्मरण आता है जिन्हें देखने और जिनमें झांकने का मुझे मौका मिला है। उनकी स्मृति आते ही मैं दुखी हो जाता हूं। जो उनमें देखा है, वह हृदय में कांटों की भांति चुभता है। क्या देखना चाहता था और क्या देखने को मिला? आनन्द को खोजता था, पाया विशाद। आलोक को खोजता था, पाया अंधकार। प्रभु को खोजता था, पाया पाप। मनुष्य को यह क्या हो गया है? उसका जीवन जीवन भी तो नहीं मालूम होता। जहां शांति न हो, संगीत न हो, शक्ति न हो, आनंद न हो–वहां जीवन भी क्या होगा? आनन्दरिक्त, अर्थशुन्य अराजकता को जीवन कैसे कहें? जीवन नहीं, बस एक दुःख स्वप्न ही उसे कहा जा सकता है –एक मूर्च्छा, एक बेहोशी और पीड़ाओं की एक लम्बी शृंखला। निश्चय ही यह जीवन नहीं। बस एक लम्बी बीमारी है, जिसकी कि परिसमाप्ति मृत्यु में हो जाती है। हम जी भी नहीं पाते, और मर जाते हैं। जन्म पा लेना एक बात है। जीवन को पा लेने का सौभाग्य मनुष्यों में बहुत कम मनुष्यों को उपलब्ध हो पाता है।

जीवन को केवल वे ही उपलब्ध होते हैं, जो कि स्वयं के और सर्व के भीतर परमात्मा को अनुभव कर लेते हैं। इस अनुभूति के अभाव में हम केवल शरीर मात्र हैं, और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। जो स्वयं को शरीर मात्र ही जानता है, वह जीवित होकर भी जीवन को नहीं जानता है। जीवन की अनादि अनन्त धारा से अभी उसका परिचय नहीं हुआ, और उस परिचय के अभाव में जीवन आनन्द नहीं हो पाता है। आत्म अज्ञान ही दुःख है। आत्मज्ञान हो तो

मनुष्य का हृदय आलोक बन जाता है, और वह न हो तो, उसका पथ अन्धकार-पूर्ण होगा ही। वह उसमें हो तो वह दिव्य हो जाता है, और वह न हो तो वह पशुओं से भी बदतर पशु है।

शरीर के अतिरिक्त और शरीर को अतिक्रमण करता हुआ अपने भीतर जो किसी भी सत्य को अनुभव नहीं कर पाते है उनके जीवन पशु जीवन से ऊपर नहीं उठ सकते। शरीर के मृतिका घेरे से ऊपर उठती हुई कोई जीवन ज्योति जब अनुभव में आती है तभी उर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही उसके बाद परमात्मा में परिणित हो जाती है।

फिर जब स्वयं के भीतर अशान्ति हो, दुःख हो, संताप हो, अन्धकार और जड़ता हो तो स्वभावतः उनके ही कीटाणु हमसे बाहर भी विस्तीर्ण होने लगते हैं। भीतर जो हो वह बाहर भी फैलने लगता है। अन्तस् ही तो आचरण बनता है। आचरण में हम उसी को बांटते हैं, जिसे कि अन्तस् में पाते हैं। अन्तस् ही अंततः आचरण है। हम जो भीतर हैं वही हमारे अन्तसंम्बन्धों में बाहर परि-व्याप्त हो जाता है। प्रत्येक प्रतिक्षण स्वयं को उलीच रहा है। विचार में, वाणी में, व्यवहार में हम स्वयं को ही दान कर रहे हैं। इस भांति व्यक्तियों के हृदय में जो उठता है– वही समाज बन जाता है। समाज में विष हो तो उसके बीज व्यक्तियों में छिपे होंगे और समाज को अमृत की चाह हो तो उसेभी व्यक्तियों में ही बोना होगा। व्यक्तियों के हृदय आनंद से भरे हो तो उनके अन्तसम्बन्ध करुणा, मैत्री और प्रीति से भर जाते हैं और दुःख से भरे हो तो हिंसा, विद्वेष और घृणा से। उनके भीतर जीवन संगीत बनता हो तो उनके बाहर भी संगीत और सुगन्ध फैलती है, और उनके भीतर दुःख और सन्ताप और रूदन हो तो उन्हीं की प्रतिध्वनियां उनके विचार और आचार में भी सुनी जाती है, यह स्वाभाविक ही है। आनंद को उपलब्ध व्यक्ति का जीवन ही प्रेम बन सकता है।

और प्रेम ही नीति है। अप्रेम अनीति है, प्रेम नीति। प्रेम जो जितना गहरा प्रविष्ट होता है वह प्रभु में उतना ही ऊपर उठ जाता है, और जो प्रेम में जितना विपरीत होता है वह पशु में उतना ही पतित। प्रेम पवित्र जीवन का– नैतिक जीवन का–मूलाधार है। क्राइस्ट का वचन है 'प्रेम ही प्रभु है'। सन्त अगस्ताइन से किसी ने पूछा–'मैं क्या करूं कैसे जीऊं कि मुझसे पाप न हो?' तो उन्होंने कहा था : प्रेम करो, और फिर तुम जो भी करोगे वह सब ठीक होगा, शुभ होगा। 'प्रेम'–इस एक शब्द में वह सब छिपा है जो मनुष्य को पशु से

प्रभु तक ले जाता है। लेकिन स्मरण रहे कि प्रेम केवल तभी सम्भव है जबकि भीतर आनन्द हो। प्रेम को ऊपर से आरोपित नहीं किया जा सकता। वह कोई वस्त्र नहीं है जिसे कि हम ऊपर से ओढ़ सकें। वह तो हमारी आत्मा है। उसका तो आविष्कार करना होता है। उसे ओढ़ना नहीं उघाड़ना होता है। उसका आरोपण नहीं, आविर्भाव होता है। प्रेम किया नहीं जाता है। वह तो एक चेतना अवस्था है जिसमें कि हुआ जाता है। प्रेम कर्म नहीं है, स्वभाव हो तभी सत्य होता है। और तभी वह दिव्य जीवन का आधार भी बनता है। और यह भी स्मरण रहे कि सहज स्फुरित स्वभाव रूप प्रेम के अभाव में जो नैतिक जीवन होता है वह दिव्यता की ओर ले जाने में असमर्थ है, क्योंकि वस्तुतः वह सत्य नहीं है। उसके आधार किसी न किसी रूप में भय और प्रलोभन पर रखे होते हैं। फिर चाहे वे भय या प्रलोभन लौकिक हो या पारलौकिक। स्वर्ग के प्रलोभन या नर्क के भय से यदि कोई नैतिक और पवित्र है तो उसे न तो मैं नैतिक कहता हूं और न ही पवित्र। वह सौदे में हो सकता है लेकिन सत्य में नहीं। नैतिक जीवन तो बेशर्त जीवन है। उसमें पाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वह तो आनंद और प्रेम से स्फुरित सहजचर्या है। उसकी उपलब्धि तो उसमें ही है, उसके बाहर नहीं। सूर्य से जैसे प्रकाश झरता है, ऐसे ही आनंद से पवित्रता और पुण्य प्रवाहित होते हैं।

एक अद्‌भुत दृश्य मुझे याद आ रहा है। सन्त राबिया किसी बाजार से दौड़ी जा रही थी। उसके एक हाथ में जलती हुई मशाल थी और दूसरे में पानी से भरा हुआ घड़ा। लोगों ने उसे रोका और पूछा—'यह घड़ा और मशाल किसलिए है और तुम कहां दौड़ी जा रही हो?' राबिया ने कहा था "मैं स्वर्ग को जलाने और नर्क को डुबाने जा रही हूं ताकि तुम्हारे धार्मिक होने के मार्ग की बाधाएं नष्ट हो जावे। मैं भी राबिया से सहमत हूं और स्वर्ग को जलाना और नर्क को डुबाना चाहता हूं। वस्तुतः भय और प्रलोभन पर कोई वास्तविक नैतिक जीवन न कभी भी खड़ा हुआ है न हो सकता है। उस भांति तो नैतिक जीवन का केवल एक मिथ्या आभास ही पैदा हो जाता है और उससे आत्म-विकास नहीं, आत्मवंचना ही होती है। इस तरह के मिथ्या नैतिक जीवन के आधार मनुष्य के ज्ञान के विकास ने नष्ट कर दिये है और परिणाम में अनीति नग्न और स्पष्ट हो गयी है। स्वर्ग और नर्क की मान्यताएं थोथी मालूम होने लगी हैं और परिणामतः उनका प्रलोभन और भय भी शून्य हो गया है। आज की अनैतिकता और अराजकता का मल कारण यही है नीति नहीं। नीति का

आभास टूट गया है, और यह शुभ ही है कि एक भ्रम से हम बाहर हो गये हैं। लेकिन एक बड़ा उत्तरदायित्व भी ऊपर आ गया है। वह है सम्यक् नैतिक जीवन के लिए नया आधार खोजने का। वह आधार भी सदा से है। महावीर, बुद्ध, काइस्ट या कृष्ण की अन्तर्दृष्टियां मिथ्या नैतिक आभासों पर नहीं खड़ी हैं। भय या प्रलोभन पर नहीं, प्रेम और ज्ञान और आनन्द पर ही उसकी नींवें रखी गयी है। प्रेमाधारित नीति का पुनरुद्धार करना है। उसके अभाव में मनुष्य के नैतिक जीवन का अब कोई भविष्य नहीं है। भय पर आधारित नीति मर गयी है। प्रेम पर आधारित नीति का जन्म न हो तो हमारे सामने अनैतिक होने के अतिरिक्त और विकल्प नहीं रह जाता। जबरदस्ती अब मनुष्य को नैतिक नहीं बनाया जा सकता है। उसकी बौद्धिक प्रौढ़ता अन्धविश्वासों को अंगीकार नहीं कर सकती है।

मैं प्रेम में द्वार देखता हूं। उस द्वार से ध्वस्त हुई पवित्रता ओर नैतिकता का पुनर्जन्म हो सकता है।

लेकिन मनुष्य में सर्व के प्रति प्रेम का जन्म तभी होता है, जब स्वयं में आनंद का जन्म हो। इसलिए असली प्रश्न आनंदानुभूति है। अन्तस् में आनन्द हो तो आत्मानुभूति से प्रेम उपजता है। जो स्वयं को आत्यांतिक सत्ता से अपरिचित है, वह कभी भी आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकता है। स्वरूप प्रतिष्ठा ही आनंद है, और इसीलिए स्वयं को जानना वस्तुतः नैतिक और शुभ होने का मार्ग है। स्वयं को जानते ही आनंद का संगीत बजने लगता है और ज्ञान का आलोक फैल जाता है और फिर जिसके दर्शन स्वयं के भीतर होते है, उसके भी दर्शन समस्त में होने लगते हैं। स्वयं के अणु को जानते ही सर्व की समस्त सत्ता जान ली जाती है। स्वयं को ही सबमें पाकर प्रेम का जन्म होता है और प्रेम से बड़ी और कोई क्रांति नहीं है और न उससे बड़ी कोई पवित्रता है और न उपलब्धि है। जो उसे पा लेता है वह जीवन को पा लेता है।

मैं मृत्यु सिखाता हूं

मैं प्रकाश की बात नहीं करता हूं, वह कोई प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न वस्तुतः आंख का है। वह है तो प्रकाश है। वह नहीं है, तो प्रकाश नहीं है। क्या है वह हम नहीं जानते हैं। जो हम जान सकते हैं, वही हम जानते हैं। इसलिए विचारणीय सत्ता नहीं, विचारणीय ज्ञान की क्षमता है। सत्ता उतनी ही ज्ञात होती है, जितना ज्ञान जागृत होता है।

कोई पूछता था आत्मा है या कि नहीं है? मैंने कहा आपके पास उसे देखने की आंख है तो है, अन्यथा नहीं ही है। साधारणतः हम केवल—(Matter) पदार्थ को ही देखते हैं। इंद्रियों से केवल वही ग्रहण होता है। देह के माध्यम से जो भी जाना जाता है वह देह से अन्य हो भी कैसे सकता है। देह——देह को ही देखती है और देख सकती है। अदेही उससे अस्पर्शित रह जाता है। आत्मा (Consciousness) उसकी ग्रहण सीमा (Receptivity) में नहीं आती है। वह पदार्थ से अन्य है। इसलिए उसे जानने का मार्ग भी पदार्थ से अन्य ही हो सकता है।

आत्मा को जानने का मार्ग धर्म है। धर्म उपदेश नहीं वह उपचार है। वह उस आंतरिक चक्षु की चिकित्सा है, जिससे जो पदार्थ के आंतरिक है और पदार्थ का अतिक्रमण करता है उसे जाना जाता है। वह कोई विचारणा नहीं, साधना है। विचारणा (Thinking) ऐंद्रिक है। क्योंकि सब विचार इंद्रियों से ही ग्रहण होते हैं, और इसलिए विचारणा कभी एंद्रिक का अतिक्रमण नहीं कर पाती है। विचार अंतस् में जागते नहीं। बाहर से आते हैं। वे अंतस् नहीं अतिथि है। वे स्वयं नहीं पर है। इसलिए विचार अपनी चरम परिणति में विज्ञान (Science) बनकर अनिवार्यतः पदार्थ केंद्रित हो जाता है और जो विचार का उसके तार्किक अन्त तक अनुगमन करेगा वह पायेगा कि पदार्थ के अतिरिक्त जगत में और कुछ भी नहीं है। विचार स्वरूपतः आत्मा के निषेध के लिए आवद्ध है क्योंकि उसका जन्म और ग्रहण इंद्रियों से होता है और जो इंद्रियों के अतीत हैं। वह उसकी सीमा नहीं। इसलए आत्मा को प्रकट करनेवाले सब विचार असगंत और तर्क शून्य मालूम होते हैं यह स्वाभाविक ही है।

धर्म अतर्क्य है। क्योंकि धर्म कोई विचार नहीं है। वह असंगत भी है क्योंकि इंद्रिय ज्ञान से उसकी कोई संगति सम्भव नहीं है, क्योंकि वह इंद्रियों से नहीं वरन् किसी बहुत ही अन्य और भिन्न मार्ग से उपलब्ध होता है। धर्म विचार की अनुभूति नहीं, निर्विचार चेतन्य (Thoughtless Consciousness) में हुआ बोध है। विचार इंद्रियजन्य है। निर्विचार चैतन्य अतींन्द्रिय है। विचार की चरम निष्पत्ति पदार्थ है। निर्विचार चैतन्य का चरम साक्षात आत्मा है। इसलिए जो विचारणा आत्मा के सम्बन्ध में है, वह व्यर्थ है। सार्थक है वह साधना, जो निर्विचारणा की ओर है।

विचार के पीछे भी कोई है वही बोध है, विवेक है, बुद्धि है। विचार में ग्रस्त और व्यस्त उसे नहीं जान पाता है। विचार धुएं की भांति उस अग्नि

को ढांके रहते हैं। उनमें होकर सारा जीवन ही धुआं हो जाता है और व्यक्ति उस ज्ञानाग्नि से अपरिचित ही रह जाता है जो कि उसका वास्तविक होना है। विचार पराये है। वह अग्नि ही अपनी है। विचार ज्ञान नहीं है। वही चक्षु है, जिससे सत्य जाना जाता है। वह नहीं है, तो हम अन्धे हैं। और अन्धेपन म प्रकाश तो क्या, अंधेरा भी नहीं जाना जा सकता।

एक बार एक साधु के पास कुछ लोग अपने अन्धे मित्र को लाये थे। उन्होंने उसे बहुत समझाया था कि प्रकाश है, पर वह मानने को राजी नहीं हुआ था। उसका न मानना ठीक भी था। मानना ही गलत हुआ होता, यही विचार और संगत था। जो नहीं दीख रहा था, वह नहीं था। हममें से अधिक का तर्क भी यही है। वह अन्धा भी विचारक था और विचार के नियमों के अनुकूल ही उसका वह व्यवहार था। उसके मित्र ही गलत थे। साधु ने यही कहा था। उसने कहा था मेरे पास क्यों लाये हो? किसी वैद्य के पास ले जाओ। तुम्हारे मित्र को प्रकाश समझाने की नहीं, चिकित्सा की आवश्यकता है। मैं भी यही कहता हूं। आंख है तो प्रकाश है और जो प्रकाश के लिए सच है वही आत्मा के लिए भी सच है।

सत्य वही है जो प्रत्यक्ष हो। यद्यपि जो प्रत्यक्ष है, केवल वही सत्य नहीं है। सत्य अनन्त है। अनन्त प्रत्यक्ष भी हो सकता है। विचार हमारी सीमा है, इंद्रियां हमारी सीमा है इसलिए उनसे जो जाना जाता है वह वही है जिसकी सीमा है। असीम को, अनन्त को उनसे ऊपर उठकर जानना होता है। इंद्रियों के पीछे विचार शून्य की चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात होता है वही अनन्त –असीम, अनादि आत्मा है।

आत्मा को जानने की आंख शून्य है। उसे ही समाधि कहा है। यह योग है। चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से वह बन्द आंखे खुलती है ओर सारा जीवन अमृत प्रकाश से आलोकित और रूपांतरित हो जाता है। वहां पूछना नहीं होता कि आत्मा है या कि नहीं है। वहां जाना जाता है। वहां दर्शन है। विचार, वृत्तियां, चित्त जहां नहीं है—वहां दर्शन है।

शून्य से पूर्ण का दर्शन होता है और शून्य आता है विचार प्रक्रिया के तटस्थ चुनाव रहित (Choiceless) साक्षीभाव (Awareness) से। विचार में शुभाशुभ का निर्णय नहीं करना है। वह निर्णय राग या विराग लाता है। किसी को रोक रखन और किसी को परित्याग करने का भाव उससे पैदा होता है। वह भाव ही विचार बन्धन है। वह भाव ही चित्त का जीवन और प्राण है।

उस भाव के आधार पर ही विचार की श्रृंखला अनवरत चलती चली जाती है। विचार के प्रति कोई भी भाव हमें विचार से बांध देता है। उसके तटस्थ साक्षी का अर्थ है निर्भाव विचार को निर्भाव के बिन्दु से देखना ध्यान (Meditation) है। बस देखना है (Just-seeing) और चुनाव नहीं करना है, और निर्णय नहीं लेना है। यह बस देखना बहुत श्रम साध्य है। यद्यपि कुछ करना नहीं है पर कुछ न कुछ करते रहने की हमारी इतनी आदत्त बनी है कि कुछ न करने जैसा सरल और सहज कार्य भी बहुत कठिन हो गया है। बस, देखने मात्र के बिन्दु पर थिर होने से क्रमशः विचार विलीन होने लगते हैं वैसे ही जैसे प्रभात में सूर्य के उत्ताप में दूब पर जमे ओसकण बाष्पीभूत हो जाते है। बस देखने का उत्ताप विचारों के बाष्पीभूत हो जाने के लिए पर्याप्त है। वह राह है जहां से शून्य उद्घाटित होता है और मनुष्य को आंख मिलती है और आत्मा मिलती है।

मैं एक अंधेरी रात्रि में अकेला बैठा था। बाहर भी अकेला था भीतर भी अकेला था। बाहर किसी की उपस्थिति नहीं थी और भीतर किसी का विचार नहीं था। कोई क्रिया भी नहीं थी। बस देखता था, कुछ देखता था ऐसा नहीं, बस देखता ही था। उस देखने का कोई विषय (Object) नहीं था। वह देखना निर्विषय और आधार शून्य था। वह किसी का देखना नहीं, बस मात्र देखना ही था। और तभी किसी ने आकर पूछा था कि क्या कर रहे हैं? अब मैं क्या कहता? कुछ कर तो रहा ही नहीं था। मैंने कहा मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। मैं बस हूं, यह मात्र होना (Just Being) ही शून्य है। यही वह बिन्दु है जहां पदार्थ का अतिक्रमण और परमात्मा का आरम्भ होता है।

मेरे प्रिय! में शून्य सिखाता हूं। मैं यह मिटना ही सिखाता हूं। मैं यह मृत्यु ही सिखाता हूं और यह इसलिए सिखाता हूं कि तुम पूर्ण हो सको, कि तुम अमृत हो सको। कैसा आश्चर्य है कि मिटकर जीवन मिलता है और जो जीवन से चिपटते हैं वे उसे खो देते हैं। पूर्ण होने की जो चिंता में हैं, वह रिक्त और शून्य हो जाता है और जो शून्य होकर निश्चित है वह पूर्ण को पा लेता है। बूंद, बूंद रहकर सागर नहीं हो सकती। वह अहंकार निष्फल है। उस दिशा से बूंद मिट तो सकती है, पर सागर नहीं हो सकती है। बूंद बने रहने का आग्रह ही तो सागर होने में बाधा है। वही तो आडम्बर और रूकावट है। सागर की ओर से द्वार कभी भी बन्द नहीं है। क्योंकि जिसके द्वार हैं और दीवारें हैं, वह तो सागर ही नहीं है। बूंद अपने ही हाथों अपने में बन्द होती है। उसकी दीवारे और सीमाएं उसकी अपनी ही है। सागर तो

वह होना चाहती है पर अपने बूंद होने को नहीं तोड़ना चाहती है। यही उसकी दुविधा है, यही दुविधा मनुष्य की है। यह असम्भव है कि बूंद–बूंद रहे, और सागर हो जाये, और मनुष्य व्यक्ति–व्यक्ति रहे और ब्रह्म को जान ले, ब्रह्म हो जाये। 'मैं' की बूंद मिटती है तो आत्मा का सागर उपलब्ध होता है।

आत्मा का सागर बहुत निकट है और हम व्यर्थ ही बूंद को पकड़कर रूके हुए हैं। आत्मा का अमृत बहुत निकट है और हम व्यर्थ ही मृत्यु को ओढ़-कर बैठे हुए हैं। बूंद को मिटाना होता है और हमें अपने ही हाथों से ओढ़े हुए वस्त्रों को दूर करना पड़ेगा, और हमें अपनी सीमाएं छोड़नी ही होंगी। तभी हम अनंत और असीम सत्य के अंग हो सकते हैं। यह साहस जिनमें नहीं है वे धार्मिक नहीं हो सकते हैं। धर्म मनुष्य जीवन का चरम साहस है क्योंकि वह स्वयं को शून्य करने और विसर्जित करने का मार्ग है। धर्म भयभीतों की दिशा नहीं है। स्वर्ग के लोभ से पीड़ित और नर्क के भय से कम्पितों के लिए वह पुरूषार्थ नहीं है। वह सारे प्रलोभन और भय बूंद के हैं। उन भयों और प्रलोभनों से ही तो बूंद ने अपने को बनाया और बांधा है। बूंद को तो मिटाना है, व्यक्ति को तो मृत्यु देना है। जिसमें इतना अभय और साहस है वही सागर के निमंत्रण को स्वीकार कर सकता है। सागर का निमंत्रण ही सत्य का निमंत्रण है।

अहिंसा क्या है ?

मैं अहिंसा पर बहुत विचार करता था। जो उस सम्बन्ध में सुनता था, उससे तृप्ति नहीं होती थी। वे बातें बहुत ऊपरी मालूम होती थी। बुद्धि तो उनसे प्रभावित होती थी, पर अन्तर अछूता रह जाता था। धीरे–धीरे इसका कारण भी दीखा। जिस अहिंसा के सम्बन्ध में सुनता था, वह नकारात्मक (Negative) थी। नकार (Negation) बुद्धि से ज्यादा गहरे नहीं जा सकता है। जीवन को छूने के लिए कुछ विधायक (Positive) चाहिए। अहिंसा, हिंसा का छोड़ना ही हो, तो वह जीवन स्पर्शी नहीं हो सकती है। वह किसी का छोड़ना नहीं, किसी की उपलब्धि होनी चाहिए। वह त्याग नहीं, प्राप्ति हो, तभी सार्थक है।

अहिंसा शब्द की नकारात्मकता ने बहुत भ्रांति को जन्म दिया है। वह शब्द तो नकारात्मक है, पर अनुभूति नकारात्मक नहीं है। वह अनुभूति शुद्ध प्रेम

की है। प्रम राग हो तो अशुद्ध है, प्रेम राग न हो तो शुद्ध है। रागयुक्त प्रेम किसी के प्रति होता है, राग मुक्त प्रेम सबके प्रति होता है। सच यह है कि वह किसी के प्रति नहीं होता है। बस, केवल होता है। प्रेम के दो रूप हैं। प्रेम सम्बन्ध (Relationship) हो तो राग होता है। प्रेम स्वभाव हो, स्थिति (State of Mind) हो, तो वीतराग होता है। यह वीतराग प्रेम ही अहिंसा है।

प्रेम के सम्बन्ध से स्वभाव में परिवर्तन अहिंसा की साधना है। वह हिंसा का त्याग नहीं, प्रेम का स्फुरण है। इस स्फुरण में हिंसा तो अपने आप छूट जाती है, उसे छोड़ने के लिए अलग से कोई आयोजना नहीं करनी होती है। जिस साधना में हिंसा को भी छोड़ने की चेष्ठा करनी पड़े वह साधना सत्य नहीं है। प्रकाश के आते ही अंधेरा चला जाता है। यदि प्रकाश के आने पर भी, उसे अलग करने की योजना करनी पड़े तो जानना चाहिए कि जो आया है, वह और कुछ भी हो, पर कम से कम प्रकाश तो नहीं ही है। प्रेम पर्याप्त है। उसका होना ही, हिंसा का न होना है।

प्रेम क्या है? साधारणतः जिससे प्रेम करके जाना जाता है, वह राग है। और अपने आपको भुलाने का उपाय है। मनुष्य दुःख में है और अपने आपको भूलना चाहता है। तथाकथित प्रेम के माध्यम से वह स्वयं से दूर चला जाता है। वह किसी और में अपने को भुला देता है। प्रेम, मादक द्रव्यों (Intoxicants) का काम कर देता है। वह दुःख मुक्ति नहीं लाता, केवल दुःखों के प्रति मूर्च्छा ला देता है। इसे मैं प्रेम का सम्बन्ध रूप (Love as relationship) कहता हूं। वह वस्तुतः प्रेम नहीं, प्रेम का भ्रम ही है। प्रेम का यह भ्रम रूप (Illusion) दुःख से उत्पन्न होता है। दुखानुभव व्यक्तिचेतना को दो दिशाओं में ले जा सकता है। एक दिशा है, उसे भूलने की, और एक दिशा है उसे विसर्जित करने की। जो दुःख विस्मृति की दिशा पकड़ता है वह जाने–अनजाने किसी न किसी प्रकार की मादकता और मूर्च्छा की खोज करता है। दुःख विस्मरण में आनंद का आभास होता है। यह आभास ही सुख है। निश्चय ही यह सुख बहुत क्षणिक ही हो सकता है, क्योंकि जो है उसे बहुत देर तक भुलाना सम्भव नहीं है। साधारण रूप से प्रेम के नाम से जानाजानेवाला प्रेम ऐसी ही मूर्च्छा और विस्मरण की चित्त स्थिति है। वह दुःख से उत्पन्न होता है। और दुःख को भुलाने के उपाय से ज्यादा नहीं है।

मैं जिस प्रेम को अहिंसा कहता हूं वह आनंद का परिणाम है। उससे दुःख विस्मरण नहीं होता है, वरन् उसकी अभिव्यक्ति ही दुःख मुक्ति पर होती

है। वह मादकता नहीं परिपूर्ण जागरण है। जो व्यक्ति चेतना दुःख विस्मरण नहीं, दुःख विसर्जन की दिशा में चलती है, वह उस सम्पदा की मालिक बनती है, जिसे प्रेम कहते हैं। भीतर आनंद हो तो बाहर प्रेम फलित होता है। वस्तुतः जो भीतर आनंद है, वही बाहर प्रेम है। वे दोनों दो नहीं है, वरन् एक ही अनुभूति की दो प्रतीतियां हैं, वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आनंद स्वयं को अनुभव होता है। प्रेम जो निकट आते हैं, उन्हें अनुभव होता है। आनंद केन्द्र है, तो प्रेम परिधि है। ऐसा प्रेम सम्बन्ध नहीं, स्वभाव है। जैसे सूरज से प्रकाश निस्सृत होता है, ऐसे ही वह स्वयं से निस्सृत होता है। प्रेम के इस स्वभाव रूप (Love as being) में कोई बाह्य आकर्षण नहीं, आंतरिक प्रवाह है। उसका बाहर से न कोई सम्बन्ध है, न कोई अपेक्षा है। वह बाहर से मुक्त और स्वतंत्र है। इस प्रेम को मैं अहिंसा कहता हूं।

मैं यदि दुःख में हूं, तो हिंसा में हूं। मैं यदि आनंद में हो जाऊं तो अहिंसा में हो जाऊंगा। इसलिए स्मरणीय है कि अहिंसा की नहीं जाती है। वह क्रिया (Doing) नहीं सत्ता (Being) है। उसका सम्बन्ध कुछ करने से नहीं, कुछ होने से है। वह आचार परिवर्तन नहीं आत्म–क्रांति है। दुःख से जो प्रतिनिधित्व होता है, वह हिंसा है। आनंद से जो प्रवाहित होता है, वह हिंसा निरोध है। मैं क्या करता हूं यह सवाल नहीं है। मैं क्या हूं यह सवाल है।

मैं दुःख हूं, या कि आनंद हूं, यह प्रत्येक को अपने से पूछना है। उस उत्तर पर ही सबकुछ निर्भर करता है। तथाकथित आनंद के पीछे झांकना है, भुलावों और आत्मवंचनाओं (Self-deceptions) के आवरणों को उघाड़कर देखना है। उसे जो कि वस्तुतः है, जानने को स्वयं के समक्ष नग्न होना जरूरी है। आवरणों के हटते ही दुःख की अतल गहराइयां अनुभव होती हैं। घने अंधेरे और संताप का अनुभव होता है। भय लगता है, वापिस अपने आवरण ओढ़ लेने का मन होता है। इस भांति भयभीत होकर जो अपने दुःख को ढांक लेते हैं, वे कभी आनंद को उपलब्ध नहीं होते हैं। दुःख को ढांकना नहीं, मिटाना है। और उसे मिटाने के लिए उसका साक्षात करना होता है। यह साक्षात ही तप है।

दुःख का विस्मरण संसार में ले जाता है। दुःख का साक्षात स्वयं में ले जाता है। जो उससे भागता है और उसे भूलना चाहता है, वह मूर्च्छा को आमंत्रण देता है। वह स्वयं ही मूर्च्छा की खोज करता है। साधारणतः जिसे हम

जीवन कहते हैं, वह मूर्च्छा के अतिरिक्त और क्या है ? और जिसे हम सफल जीवन कहते हैं, वह सफलता पा लेने के सिवाय और क्या है ? जीवन में सन्निहित दुःख को जो धन की, या यश की, या काम (Sex) की मादकता में भूलनें में सफल मालूम होते हैं उन्हें तो हम सफल कहते हैं। पर सत्य कुछ अन्यथा ही है। ऐसे लोग जीवन को पाने में नहीं, गंवाने में सफल हो गये हैं। उन्होंने दुःख को भुलाकर आत्मघात (Suicide) ही कर लिया है। दुःख के प्रति जागरण आनन्द को आत्मा में प्रतिष्ठित कर देता है।

दुःख साक्षात अमूर्च्छा (Awareness) लाता है। उससे निद्रा टूटती है। जो व्यक्ति दुःख से, संताप से (Anguish) घबराकर पलायन नहीं करता है, और किन्ही स्वप्नों में स्वयं को नहीं खो लेता है, वह अपने भीतर एक अभूतपूर्व चैतन्य (Consciousness) को जागृत करता है। वह एक क्रांति (Revolution) का साक्षी बनता है। चैतन्य का यह जागरण उसे आमूल परिवर्तित कर देता है। वह अपने भीतर अंधेरे को टूटते हुए देखता है और देखता है कि उसकी चेतना के रंध्र से प्रकाश परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकाश में पहली बार वह स्वयं को जानता है। पहली बार उसे दीखता है कि वह कौन है।

दुःख साक्षात के दबाव (Pressure) में ही आत्म जागरण होता है। आंतरिक पीड़ा का आत्यंतिक बोध अपनी चरम स्थिति (Climax) पर विस्फोट बन जाता है। जो इस सीमा तक पीड़ा से गुजरने पर राजी होते हैं, वे पीड़ा के बाहर पहुंच जाते हैं। जो इतना साहस करता है, सत्य अपना द्वार उसके लिए खोल देता है।

मैं कौन हूं यह जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इस बोझ के साथ ही दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख स्वअज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं अपने को जानते ही आनंद का अधिकारी हो जाता हूं। वह जो प्रत्येक के भीतर है, सच्चिदानंद है। उस ब्रह्म की अनुभूति आनंद है। ब्रह्म को, आत्मा को जानना सत्य (Truth) को जानना है। सत्य को जानना आनंद को पा लेना है।

सत्य पाया जाता है। आनंद और प्रेम उसमें फलित होते हैं। जो अंतस् में आनंद होता है वही आचरण में अहिंसा होकर दीखता है। अहिंसा सत्यानुभूति (Realisation of Truth) का परिणाम (Consequence) है। वह सत्य के दिये का प्रकाश है।

समाधि के पौधे में सत्य के फूल लगते हैं और अहिंसा की सुगन्ध आकाश में परिव्याप्त हो जाती है।

आचार्य श्री रजनीशकी

अमृत वाणी

[संकलन : श्रीमती उर्मिला एम. ए.]

धर्म क्या है ?

अपने स्वरूप का बोध और अपनी सत्ता का अनुभव ही धर्म है. जो व्यक्ति स्वयं को जान लेता है वही धार्मिक है, वही ज्ञानी है. धर्म को हिन्दू, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि विभिन्न नाम देना नितान्त अनुचित है।

यदि सत्य को जानना है या धार्मिक जीवन में कहीं पहुंचना है तो उस मार्ग पर कोई मान्यता बनाकर नहीं चलना चाहिये क्योंकि सत्य के पास तो बिल्कुल शांत और शून्य होकर जाना चाहिये. यदि पहले से ही हम सत्य, आत्मा, परमात्मा, आदि के बारे में अपनी कोई पूर्व धारणा बना लें तो उस धारणा को हम सत्य पर आरोपित कर देंगे. हमारे मन में कल्पना की इतनी क्षमता है कि वह उस धारणा को धीरे धीरे अनुभव भी करने लगेगा. ईसा के भक्त को शूली पर लटके हुये ईसा के साक्षात दर्शन होते हैं और चूंकि कृष्ण भक्त बांसुरी बजानेवाले कृष्ण की आराधना करता है, इसीलिये उसे सदा मुरली-धर के दर्शन होते हैं–किन्तु आज तक किसी ईसाई ने ईसा को बन्सिरी बजाते हुये नहीं देखा और न किसी कृष्णभक्त ने कृष्ण को शूली पर लटके हुये देखा. अतः ये अनुभव सच्चे आत्मिक अनुभव नहीं हैं, ये केवल मानसिक कल्पनायें हैं. अज्ञान में बनाई गई सब मान्यतायें गलत ही होती हैं. सत्य के बारे में मान्यता बनाना ठीक वैसे ही है जैसे किसी अंधे आदमी का प्रकाश के बारे में कल्पना करना. प्रकाश के विवेचन को सुनकर यदि वह प्रकाश की कल्पना करने की कोशिश करे तो भी बिना नेत्रों के उसे मालूम नहीं हो सकता कि

वास्तव में प्रकाश कैसा है. हां ! यदि उपचार द्वारा उसकी आंखें ठीक हो जाय तब उसको प्रकाश जैसा है वैसा दिखाई देगा. भगवान बुद्ध ने, महावीर ने, ईसा ने संसार को कोई सिद्धांत नहीं दिया, उन्होंने तो सत्य को देखने के लिये केवल आंखें खोलने की विधि बतलाई.. किन्तु उनके बाद उनका अनुयायी वर्ग उस विधि के बारे में कुछ न कहकर केवल सिद्धांतों की चर्चा करता रहा. यद्यपि सत्य के बारे में किसी को कुछ बताया नहीं जा सकता तथापि सत्य के जानने की विधि अवश्य सिखाई जा सकती है. ग्रन्थों और शास्त्रों के आधार पर आत्मा, परमात्मा, लोक परलोक विषयक जो जानकारी प्राप्त की जाती है वह वास्तविक ज्ञान नहीं है. शास्त्रों के अध्ययन करनेवाले को यह भ्रम अवश्य हो जाता है कि वह ज्ञान प्राप्त कर रहा है जबकि सच तो यह है कि वह पाखंड प्राप्त कर रहा है. शास्त्रों को तोते की भांति रटनेवाला व्यक्ति स्मरणशक्ति द्वारा एकत्रित की हुई सूचनाओं के आधार पर आत्मा परमात्मा, द्रव्य पदार्थ आदि विषयों से संबंधित सब प्रश्नों का उत्तर तुरन्त दे सकता है. किन्तु इसके बारे में उसकी अपनी कोई अनुभूति नहीं है, अतः ये उत्तर झूठे हैं. सत्य के प्रकाश को जानने के लिये तो साधना की विधि को सीखना पडता है. बिना विधि सीखे सिद्धांतों को समझना असंभव है. अतः सत्यानुभूति से पहले किसी भी मान्यता को मत पकडिये. शून्यता को ग्रहण कीजिये, क्योंकि मान्यता तो मन को भर देगी और शून्यता मन को खाली कर देगी. जब तक मनुष्य में शारीरिक या मानसिक अशांति होती है तब तक वह सत्य को नहीं जान सकता . अशांत, उद्विग्न चिन्ताग्रस्त चित्त कभी उस निर्दोष स्थिति में नहीं पहुंच पाता जहां सत्य का साक्षात्कार होता है. सत्य के अनुभव के लिये यह आवश्यक है कि चित्त इतना शांत और अनुद्विग्न हो कि एक भी विचार का कंपन चित्त पर न पडे, तभी सत्य जैसा है उसकी वैसी ही प्रतीति होगी. उस प्रतीति के बाद अर्थात् उस अनुभव के आधार पर व्यक्ति प्रथम बार अपना विश्वास बना सकता है. ज्ञान प्राप्ति के पहले जो विश्वास होगा उसे मान्यता ही कहना चाहिये, क्योंकि वह दूसरों द्वारा दी गई सूचना का समर्थन मात्र ही है, अतएव ज्ञान के पहले जो है वह अंधविश्वास है या मिथ्या श्रद्धा है, और ज्ञान के बाद जो है वह विश्वास है, सम्यक् श्रद्धा है ।

तथाकथित तत्वज्ञाता यह तो नहीं बताते कि सत्य को कैसे जाना जा सकता है, वे केवल सत्य की तत्व चर्चा करते हैं जो कि वस्तुतः शब्दों की ही चर्चा है. इस प्रकार की खोखली चर्चा के शब्दों को याद करके कुछ लोग अपने

आप को ज्ञानी समझने लगते हैं. परन्तु तथ्य तो यह है कि बुद्धि से प्राप्त हुआ ज्ञान कोई ज्ञान नहीं है. जब तक अंतरात्मा से संबंधित कोई अनुभूति न हो तब तक उसे ज्ञान कदापि नहीं कहा जा सकता। आज तो ज्ञान का अर्थ है कुछ तात्विक सिद्धांतो को स्कूल के बच्चों की तरह कंठस्थ कर लेना. परंतु आत्मिक जीवन में न तो स्कूल जैसा अध्ययन ही होता है और न परीक्षा ही। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें बोधिधर्म और उसके चार शिष्यों की कथा में मिलता है. बोधिधर्म भिक्षु जब चीन में नौ वर्ष रहने के बाद भारत वापस आने की तैयारी करने लगा तो उसने परीक्षा द्वारा यह जानना चाहा कि उसके चार शिष्यों को सत्य का ज्ञान हुआ है या नहीं. पहले शिष्य से बोधिधर्म ने जब पूछा कि सत्य क्या है, तो उसने उत्तर दिया: 'सत्य ईश्वर है, सत्य सर्वव्यापी और शाश्वत है.' दूसरे ने उत्तर दिया : 'अंतरात्मा ही सत्य है, शेष सब असत्य है.' तीसरे ने यह कहा कि सत्य को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता; किंतु जब यही प्रश्न चौथे शिष्य से पूछा गया तो वह चुपचाप बोधि धर्म की ओर खड़ा होकर उसकी आंखों में देखता रहा। बोधिधर्म उसकी अंतःस्थिति को समझ गया। अतः उसने जब सिर हिलाकर अपनी स्वीकारोक्ति दी तो वह शिष्य हँसने लगा अर्थात् जो मौन में नहीं कहा जा सकता वह आनन्द में प्रगट हो गया। तब निर्णय देते हुये बोधि धर्म ने कहा कि सत्य का ज्ञान तो केवल इसी को हुआ है। बाकी तीनों ने तो केवल बुद्धि द्वारा ही याद किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान प्राप्ति के बाद व्यक्ति बिलकुल मौन हो जाता है। जब ज्ञान न हो और केवल तत्व चर्चा ही याद हो तो वह बहुत मुखर हो जाता है। अज्ञानी में पांडित्य होता है और ज्ञानी में पांडित्य नहीं अपितु प्रज्ञा होती है। अतः ज्ञान प्राप्ति से पहले किसी धर्म, किसी शास्त्र या किसी विचार के आधार पर अपनी कोई मान्यता नहीं बनानी चाहिये। ज्ञान की दिशा की ओर अग्रसर होने के लिये केवल मौन, शान्त और शून्य होने की, कोशिश करनी चाहिये और इसके लिये ध्यान में जाना आवश्यक है। ध्यान के लिये विचार शून्यता की भूमिका चाहिये। मन में विचारों के आगमन को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि सत् असत्, किसी प्रकार के विचार का उपयोग न किया जाये। किसी मंत्र, किसी शब्द यहां तक कि ओम तक का सहारा न लिया जाये. सद् विचार और असद् विचार दोनों के आने की प्रक्रिया तो एक ही है. यदि सद्विचारों को पकड़ेंगे तो उससे विचारोंका तांता टूट नहीं सकता। अच्छे और बुरे सब प्रकार के विचारों की लहरें मस्तिष्क में उठने लगेगी। अतः ध्यान में न तो आत्मा के बारे में सोचिये न परमात्मा के बारे में।

विचार शून्य होने का पहला उपाय यह है कि विचारों से आप संघर्ष न करें। ध्यान के समय शांत होकर बैठना चाहिये. शांति से मेरा अभिप्राय यहां पर मात्र चित्त की शांति से नहीं अपितु शरीर की पूर्ण विश्रांति से भी है। ध्यान में ऐसे बैठना चाहिये कि शरीर को कोई प्रयास ही न करना पडे। रीढ को सीधा रखकर समस्त शरीर को ढीला छोड़ देना चाहिये. रीढ सीधी हो और सारा शरीर उसमें ऐसे टंग जाये जैसे उसमें प्राण ही नहीं है, ठीक वैसे, जैसे खूंटी पर कपडा टंगा हो। इसके बाद प्राकृतिक ढंग से गहरा श्वास लेना चाहिये। प्राकृतिक श्वास से अभिप्राय है पेट से श्वास लेना। श्वास और प्रश्वास के कारण पेट ऊपर नीचे हो किन्तु सीने को फूलना नहीं चाहिये। सीने से श्वास लेना अप्राकृतिक है। छोटा बच्चा जब श्वास लेता है तो उसका केवल पेट ही ऊपर नीचे होता है। जैसे जैसे आयु बढती है वैसे वैसे मनुष्य कृत्रिम श्वास लेने लगता है. किन्तु श्वास जितना गहरा और लययुक्त होगा विचार उतने ही कम होंगे. यदि श्वास परिपूर्ण लययुक्त हो जाये तो विचार बिलकुल विलीन हो जायेंगे. विचार और श्वास का गहरा सम्बन्ध है। इसीलिये योग ने विचार मुक्ति के लिये श्वास पर अत्याधिक जोर दिया है। इससे विचारों का अंत स्वतः हो जाता है. पेट तक गहरी सांस लें और पेट का ऊपर नीचे होना देखते रहें, फिर आंख बंद करके भी उस गति का बोध रखें तो थोड़ी ही देर में विचार बन्द हो जायेंगे। सांस की गहराई जितनी संगीतपूर्ण होगी शरीर उतना ही शांत हो जायेगा। जब उसमें कोई कंपन या हिलन डुलन नहीं होगा तब उस स्थिति का नाम आसन है। शरीर और इंद्रियों की उत्तेजनायें ही तो मन को प्रकंपित करती हैं। जैसे जैसे उत्तेजनायें कम होती जायेंगी वैसे वैसे मन शांत होता जायेगा. शांति और ध्यान में जाने के दो महत्वपूर्ण चरण हैं: पहला तो यह कि शरीर जब शांत हो जाये तो मन अपनी इंद्रियों द्वारा बाहरी उत्तेजनाओं को ग्रहण न करे और कोई नई उत्तेजना भीतर न जाये। यह काम आसन कर देता है. शरीर यदि बाहर के प्रति ग्रहणशील न हो अर्थात् बाहर के प्रभावों को ग्रहण न करे तो मन पर उनका असर नहीं पडेगा और भीतर का आधा काम हो जायेगा। मन के पास तो अपना कुछ भी नहीं है, इंद्रियां जो प्रभाव एकत्रित करती हैं उन्हीं का संग्रह वह करता है। यदि इंद्रियां अपना काम बंद कर दें अर्थात् आंखें न देखें, कान न सुनें, शरीर को स्पर्श का पता न चले, नाक गंध न ले और जिव्हा रस न ले तो शरीर निश्चेष्ट हो जायेगा। इस स्थिति में शरीर को ले जाने का उपाय आसन है जिसका अर्थ है बाहर के जगत से टूट जाना, अलग

हो जाना अर्थात् ध्यान के समय आप बाहरी संसार से टूट गये हैं। पहला चरण तो यही है कि मन बाहरी उत्तेजनाओं को ग्रहण नहीं करता किन्तु इससे वह केवल आधा ही शांत हो पाता है क्योंकि उसमें पहले के प्रभाव भी जमे हुये हैं। अपने अतीत के अनुभवों के कारण अच्छे और बुरे जो प्रभाव मन पर छा जाते हैं उनको भी उत्सर्जित करना होता है. यही है दूसरा चरण जिसमें पिछले संस्कारों की 'निर्जरा' करनी होती है. इन संस्कारों को यदि हटाना है तो इनका विरोध नहीं करना चाहिये, चुपचाप इनका पर्यवेक्षण करना चाहिये. पर्यवेक्षण की क्षमता को विकसित करने के लिये चुपचाप श्वास का आना जाना देखना चाहिये। धीरे धीरे श्वास का नाभि तक जाकर वापस लौटने का स्पष्ट बोध होने लगेगा। कुछ ही समय में इस बोध से गहन शांति का अनुभव होगा. शान्ति के इस क्षण में यदि कोई विचार उठता हुआ मालूम हो तो उसे बिलकुल तटस्थ भाव से देखना चाहिये। न उसका विरोध करना चाहिये न उससे विचलित होना चाहिये। उसके प्रति केवल असहयोग का दबाव हो, तब उसका चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। कुछ दिनों बाद इस प्रयोग के कारण न तो कोई विचार उठेगा और न वासना ही। जब पहली बार मन ऐसी शांत और निर्देषक स्थिति में पहुंचेगा तो उस क्षण अलौकिक आनन्द का अनुभव होगा और वही आनन्द आत्मा की पहली झलक होगी। फिर उसी में और गहरे से गहरे में डूबते जाने से किसी दिन वह किरण भी मिल जाती है जो सारे जीवन को बदल देती है और एक नये तल पर खडा कर देती है. तब पता चलता है कि धर्म का संबंध न शास्त्रों से है न विभिन्न मतों से। उसका तो उस शांत और शून्य स्थिति में स्वयं से संबंधित हो जाने से ही संबंध है। वह तो स्वरूप का नाम है. स्वरूप ही धर्म है। अपनी सत्ता का अनुभव ही स्व बोध है. उसी को आत्म जागरण कहते हैं और वही धर्म है। जो व्यक्ति स्वयं को जान लेता है वही सर्वज्ञाता हो जाता है।

चित्त की निर्दोष स्थिति में जिस व्यक्ति को स्वरूप का बोध हो जाता है उसका समस्त व्यवहार ही अच्छाई है और जिसे स्वरूप बोध नहीं हुआ उसका सारा व्यवहार बुराई है। अच्छाई और शुभ का अर्थ है कि जो मेरे भीतर से पूर्ण शांति और आनंद से निकले वह दूसरे के जीवन में भी शांति और आनंद लाने में सहयोगी हो। यदि मेरे भीतर अशांति और अज्ञान है तो उसके कारण दूसरे के जीवन में भी दुख और पीडा उत्पन्न हो जायेगी। वास्तव में जो भावना अपने भीतर से जिस रूप में जिस तल से निकलेगी, उसी तल पर

उसी रूप में वह दूसरे पर घटित होगी. यदि कोई अज्ञान में है, दुखी है, परेशान है तो वह जो करेगा वह सब बुराई होगी, वह अनीति होगी। आत्म ज्ञानी होना नैतिक होना है। आत्म अज्ञानी होना अनैतिक होना है क्योंकि जो आत्मा के प्रति अज्ञान से भरा है वह अनायास ही क्रोध, लोभ, परिग्रह, तृष्णा और हिन्सा से भरा हुआ है। ये आत्म अज्ञान के फल हैं. वह इनसे उत्पीड़ित है इसलिये उसके व्यवहार में यह सब झलक उठेगा। अतः उसका जीवन बुरा है, अशुभ है। इसके विपरीत जब किसी को स्वरूप बोध हो जाये तो उसका सारा जीवन अच्छाई से भर जायेगा।

प्रायः अच्छाई-बुराई, शुभ-अशुभ से अभिप्राय होता है : अच्छा काम करना या बुरा काम करना। परंतु मैं इससे असहमत हूं। मैं तो यह मानता हूं कि अच्छाई का तात्पर्य है 'अच्छा होना।' जिसका अंतः अच्छा है उसके सब काम अच्छे होते हैं। यदि व्यक्ति के भीतर बुराई है तो उसके सब काम बुरे ही होंगे. किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज केवल व्यक्ति के बाहरी कार्यों को महत्त्व देता है। उसकी आंतरिक स्थिति पर ध्यान नहीं देता. जब किसी को सत्य बोलने की शिक्षा दी जाती है तो यह नहीं देखा जाता कि उसका सत्य से कोई आंतरिक संबंध हुआ या नहीं। इसी प्रकार जब किसी को भयभीत न होने का परामर्श दिया जाता है तो यह देखने का प्रयत्न नहीं किया जाता कि उसके भीतर अभी अभय पैदा हुआ है या नहीं। मां, बाप, गुरू और स्कूली शिक्षक सब व्यक्ति को यही कहते हैं कि अच्छा काम करो परन्तु अंतर की शुद्धि की कोई विधि नहीं बताते. इससे व्यक्ति के जीवन में ढोंग और पाखंड आ जाता है। चूंकि वह अपनी आंतरिक दशा के अनुसार सदा आचरण नहीं कर सकता इसलिये उसको दो तल पर जीवित रहना पडता है। उसके भीतर यदि घृणा है तो उसे बाहर प्रेम प्रदर्शित करना पड़ता है। यदि हिन्सा है तो अहिन्सा का ढोंग करना पड़ता है। अपने भीतर प्रेम का नितान्त अभाव होते हुये भी अपनी शिक्षा के कारण व्यक्ति प्रेम के शब्द सीख लेता है और आजीवन प्रेम का अभिनय किया करता है। सांसारिक व्यवहारकुशल मनुष्य अपने लिये सदा ऐसी व्यवस्था बना लेता है जिससे उसका बाहरी रूप तो वही होता है जिसका समाज आदर करता है और भीतर की स्थिति बिलकुल विपरीत होती है। परन्तु यदि व्यक्ति को सत्य बोलने के उपदेश की जगह यह बताया जाये कि असत्य क्या है और क्यों उठता है तो अपने आप ही असत्य उससे छूट जायेगा. यदि सब लोग अपने जीवन को ठीक ठीक सम्यक् रूप से समझ लें तो उसमें पाखंड की कोई गुंजाइश

नहीं रहती । लोग भी बिलकुल निर्दोष चित्त हो सकते हैं यदि बुराई के प्रति भी हमारा रुख वही हो जो एक बीमार के प्रति हो सकता है। यदि सचमुच कोई बुरा है तो वह क्रोध का पात्र नहीं अपितु दया का पात्र है। यदि व्यक्ति के दो खंडों में विभक्त व्यक्तित्व को मिटाकर उसे अखंड बनाना है तो उसे यह साहस सिखाना चाहिये कि तुम जैसे भीतर हो वैसे ही बाहर रहो, इसके लिये यदि टूट जाना पड़े तो कोई बात नहीं, किन्तु हमारी समस्त शिक्षा और व्यक्ति जितना दीक्षा जीवन को सत्य की ओर न ले जाकर पाखंड की ओर ले जाती है। जो बडा पाखंडी होता है हमारी समाज व्यवस्था उसको उतना ही अधिक सफल बनाने में सहयोगी होती है। सरल चित्त इस संसार में प्रायः असफल ही होता है। जब तक शिक्षण पद्धति नहीं बदलती तब तक पाखंड नष्ट नहीं हो सकता। धार्मिक होने के लिये तो न केवल साहसी अपितु दुःसाहसी भी बनना पड़ता है। अपने अंदर के विकारों को स्वयं देखने का दुस्साहस करना होता है। आंतरिक पर्यवेक्षण द्वारा यदि हमें अपने भीतर अहंकार, घृणा, हिंसा, लोभ आदि विकार दिखाई पड़ें तो पहले तो उनको स्वयं अच्छी तरह से जान लेना चाहिये, फिर अपने निकट के लोगों से यह स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिये कि मेरे भीतर ये विकार और वासनायें हैं, अतः आप लोग मेरे प्रति सजग रहें। जो अपने आपको सबके सामने खुली किताब की तरह रख देता है, उसके जीवन में क्रांति आ जाती है। अपने चित्त की स्थिति के पर्यवेक्षण से ही उसमें परिवर्तन होना आरंभ हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यदि पूजा पाठ न करे, वेद शास्त्र का अध्ययन न करे तो भी वह धार्मिक हो जायेगा। वास्तव में वह अपने जिन जिन दोषों को खोल देगा उनसे वह मुक्त हो जायेगा. धार्मिक व्यक्ति जिस प्रकार निःसंकोच अपने दोषों का वर्णन कर सकता है उसी प्रकार वह दूसरों के दोषों को सुनकर उनके प्रति सहानुभूति भी रख सकता है। मैं तो उस सत्संग को धार्मिक कहूंगा जहां जाकर व्यक्ति अपने जीवन को खोलकर रख दे, सुननेवाले उसे बिना किसी घृणा भाव के सुनें और उसे अपना सहारा दें। आज के तथाकथित धार्मिक तो छिद्रान्वेषी प्रकृति के हैं। सच्चा धार्मिक दूसरे के दोष को जान लेने के बाद भी उसके प्रति प्रेम, दया और करुणा का भाव रखता है। महावीर, बुद्ध और ईसा के पास जाकर लोग अपने बडे से बडे अपराध और पाप को बता देते थे क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इससे उन महात्माओं के प्रेम में रंचमात्र भी कमी नहीं होगी। सच तो यह है कि हृदय की इन गांठों के खोलने की प्रक्रिया में ही परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। साधुओं के पुराने

संघों की गोष्ठियों और समितियों के एकांत में होने का मूल उद्देश्य यही था कि प्रत्येक सदस्य अपने आपको निःसंकोच खोल सके। इससे व्यक्ति में जो क्रांति आती है अर्थात् जो परिवर्तन आता है उसके कारण लोग समझते हैं कि उसने दोषों को छोडकर गुणों को ग्रहण कर लिया है। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि दुर्गुण का छूट जाना ही गुण का आ जाना है। सामान्यतया गुण लाने और दुर्गुण छोडने का अभ्यास किया जाता है। यदि कोई असत्य छोड़ने का निरंतर प्रयास करे तो हो सकता है कि उसकी असत्य बोलने की आदत छूट जाये किन्तु उसके हृदय में तो असत्य का ही राज्य होगा। कोशिश नई आदत बना सकती है। किन्तु स्वभाव नहीं बना सकती। भीतर असत्य के होते हुये भी जिस व्यक्ति को सत्य बोलने के लिये बाध्य होना पडता है उसका आचरण उसके स्वभाव विरूद्ध होगा अर्थात् वह अपने को धोखा देगा। मैं धर्म को आदत बनाने को नहीं कहता। धर्म तो तब होता है जब हमारी कोई आदत नहीं होती। तब हमारा स्वभाव प्रकट होता है। आदतें तो स्वभाव के प्रकट होने में बाधा डालती हैं। अधिकांश लोग प्रेम नहीं करते, प्रेम करने की आदत डालते हैं। चित्त जब शांत और निर्दोष होता है तब प्रेम स्वयं ही प्रवाहित होने लगता है। महावीर और बुद्ध जैसे जैसे अपने आपको जानने लगे अर्थात अपने स्वभाव में गये या आत्म केन्द्रित हुये वैसे वैसे उनसे प्रेम प्रवाहित होने लगा।

पाप और पुण्य की मेरी परिभाषा तो यह है कि जब क्रिया सरल और निर्दोष चित्त से पैदा हो तो वह पुण्य है और जो चित्त की जटिलता से निकले वह पाप है। अगर बिना प्रतिदान की इच्छा से प्रेम पूर्वक कुछ दिया जाये तो वह दान पुण्य है किन्तु जब कुछ पाने की इच्छा से दिया जाये तो वह दान पाप है क्योंकि वह अहंकार को परिपोषित करता है। पुण्य का अर्थ है सहज रूप में दे देना और फिर उसे भूल जाना। पुण्य बंधन नहीं है, पाप बंधन है। सरलता से निकली क्रियायें मुक्त करती हैं, उनमें पीछे की ओर देखने की भावना नहीं होती कि मैंने क्या क्या किया। सहज रूप में स्वभाव से जो विकसित होता है वह पुण्य है अन्यथा सब पाप है। साधना का तो लक्ष्य ही है स्वभाव को विकसित करके करूणा में प्रवाहित करना।

स्वभाव की पहचान बडी सरल है। व्यक्ति का स्वभाव दूसरों से प्रेम, अहिन्सा, सहानुभूति आदि की अपेक्षा करता है, जब वह इन्हीं विशेषताओं को दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में प्रगट करने लगता है तो समझना चाहिये कि यह बिलकुल स्वाभाविक हो रहा है। अर्थात् दूसरों से जो उसकी मांग है वही

उसके हृदय से बाहर की ओर प्रवाहित होने लगे तो वह अपने स्वभाव के अनुसार आचरण कर रहा है। किन्तु जब किसी का आचरण अपनी इस मांग है विपरीत हो अर्थात् वह दूसरों से अपने लिये तो प्रेम चाहे और स्वयं दूसरों को घृणा दे, तो उसे अस्वाभाविक कहा जायेगा। दूसरों से हमारी जो मांग के वही, जब अपने भीतर से बाहर की और उन्मुक्त हो बहने लगे तब समझना चाहिये कि अपना स्वभाव काम करने लगा है. जब तक अपनी मांग और अपने देने में विरोध है तब तक मन में कुछ विजातीय है जिसके कारण शुद्ध स्वभाव प्रगट नहीं हो रहा। इसके बारे में तो अपना मनोविश्लेषण स्वयं करना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूं क्या वह ठीक वही है जो मैं दूसरों से अपने प्रति चाहता हूं। अगर ऐसा नहीं है तो मुझे सचेत हो जाना चाहिये। अपने भीतर झांककर देखना चाहिये कि मेरे स्वभाव के झंरने है उनके बहने में कहीं कोई ऐसा अवरोध तो नहीं है जो स्वभाव को बाहर नहीं आने देता. यदि कोई पत्थर स्वभावरूपी झरने के प्रवाह को अवरूद्ध कर रहा हो तो उसे हटाने का प्रयत्न करना चाहिये। पर्यवेक्षण से इस तरह की सब बाधायें दूर हो जायेंगी। जैसे जैसे स्वभाव मुक्त होने लगेगा वैसे वैसे हमसे वही प्रवाहित होने लगेगा जो हम दूसरों से चाहते हैं। तब जीवन में आनन्द, शांति और मुक्तता का अनुभव होगा। तब जीवन में एकरसता पैदा हो जायेगी। वह एकरसता और एकान्तता ही तो जीवनमुक्ति है। साधना द्वारा ही अपने भीतर छिपे हुये स्वभाव के झरने पूरी तरह से प्रवाहित होने लगते हैं। जब व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध करता है तो उसके व्यवहार में वही सब आ जाता है जिसकी सबको आकांक्षा होती है। वह आद्रित हो जाता है, प्रीतिकर हो जाता है और लाखों के मन को मोह लेता है। महावीर और बुद्ध के अत्यंत लोकप्रिय होने का यही कारण था कि उनके अंदर से प्रेम, शांति, अहिन्सा और आनन्द का जो प्रवाह निकल रहा था वह सबको आनंदित कर रहा था। जब स्वभाव ठीक से प्रकाशित होता है तो लाखों स्वरुपों में जाकर अपने समान तरंगें पैदा करता है।

(२)

ज्ञान की वर्तमान स्थिति और मनुष्य के मंगल की दिशा :

सृष्टि के क्रम में मनुष्य की उत्पत्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना मानी गई है, क्योंकि मनुष्य को मस्तिष्क का जो विशेष वरदान मिला उसके कारण वह अन्य

प्राणियों से भिन्न हो गया। उनकी तरह उसका आचरण सदैव नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर ही आधारित नहीं रहा। उसने धीरे धीरे अपने आप को प्रकृति के नियंत्रण से भी मुक्त कर लिया। विश्व के प्रति उसके कौतूहल ने उसके मस्तिष्क का विकास किया और इस प्रकार मनुष्य का ज्ञान-कोष सभ्यता के साथ उत्तरोत्तर समृद्ध होता गया।

आधुनिक काल में तो ज्ञान अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त हो गया है। ज्ञान की तृष्णा इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि उसकी तुलना में जीवन के आनन्द की प्यास नगण्य हो गई। ज्ञानार्जन की तल्लीनता में मनुष्य जीने की कला को ही भूल गया है। ज्ञान जीवन को पीछे छोडकर बडी तेजी से आगे बढ गया है. समग्र ज्ञान का सदुपयोग अब मनुष्य की दृष्टि में नहीं रहा। ज्ञान के विशेषीकरण की प्रवृत्ति के कारण किसी एक विषय की पूर्ण जानकारी भी अब संभव नहीं रही। अब तो विषय के किसी एक अंग के गहन अध्ययन एवं अनुसन्धान द्वारा उसकी विशेषता प्राप्त करना ही एकमात्र लक्ष्य है। हर क्षेत्र में ज्ञान पल्लवग्राही हो गया है, एक एक पते का इतना विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है कि पूरा पैड़ दृष्टि से ओझल हो गया है। शायद वह दिन भी दूर नहीं है जब आंख का डाक्टर यह कहेगा कि मैं दायीं आंख का विशेषज्ञ हूं, इसलिये बायीं आंख का इलाज नहीं कर सकता।

ज्ञान के इस विशेषीकरण की प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ है कि मनुष्य अत्यंत संकुचित क्षेत्र में सीमित हो गया है और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण व्यापक न होकर एकांगी बन गया है। आज का वैज्ञानिक भी विज्ञान के सब क्षेत्रों का ज्ञाता नहीं रहा। भौतिक विज्ञान का शोधकर्त्ता रसायनशास्त्र की अधुनातम प्रगति से अपरिचित है और रसायनशास्त्री का अन्य विषयों से कोई सारोकार नहीं है। जब विज्ञान के नाना विषय ही अंतसंबंधित नहीं रहे तब विज्ञान और कला की दूरी तो स्वाभाविक ही मानी जायेगी।

इस विशेषज्ञता के कारण ज्ञान तो बढा किन्तु बुद्धिमता कम हो गई, इससे लोग पंडित तो बन गये परन्तु प्रज्ञा क्षीण हो गई. आज ऐसी कोई भूमिका नहीं है, ऐसी कोई व्यापक दृष्टि नहीं है कि जिससे समस्त ज्ञान परस्पर संबद्ध हो जाये। ज्ञान के समस्त अंगों के प्रति पूर्व बोध न होने के कारण उसकी विभिन्न शाखाओं के विकास में कोई समानुपात नहीं रहा। कोई अंग बहुत विकसित हो गया है और कोई अभी अविकसित दशा में ही है। इससे मनुष्य की जीवन दिशा ही भटक गई है। जीवन की समग्रता और अखंडता टूट गई है जिसके फलस्वरूप

बहुत सी असंगतियां उत्पन्न हो गई हैं। जीवन को सार्थक बनाने के लिये ज्ञानार्जन नहीं किया जाता, अब तो ज्ञानार्जन ही मानो एकमात्र उद्देश्य है. शोध द्वारा उपलब्ध ज्ञान संसार के लिये हितकर होगा या अहितकर इसके बारे में विचार नहीं किया जाता क्योंकि नैतिक बोध अब कम हो गया है और अंतःकरण की ध्वनि को सुनने का किसी के पास समय ही नहीं है। पदार्थ के शोधकर्ता ने अणुशक्ति को तो उपलब्ध किया किन्तु उसने यह न सोचा कि राजनीतिज्ञ इस अद्भुत शक्ति का दुरूपयोग मानवता के विनाश के लिये कर सकता है। पदार्थ ज्ञान से असीम शक्ति तो प्राप्त हो गई किन्तु आंतरिक चेतना के अज्ञान से मनुष्य जाति शांति से वंचित रह गई। पदार्थ के बारे में लोगों को जितनी जानकारी है उसका शतांश भी चेतना के बारे में वे नहीं जानते. इसीलिये आध्यात्मिक चेतना से शून्य वैज्ञानिक शक्ति बहुत खतरनाक हो सकती है। शांत हाथों में शक्ति हो तभी वह मनुष्यता के हित में फलित हो सकती है अन्यथा वह बच्चे के हाथ में तलवार के समान है।

आज के युग में विज्ञान की प्रगति तो बडी तेजी से हो रही है किन्तु अतीत की तुलना में मानवता के मूल्यों की कुछ अर्थों में तो उन्नति हुई है और कुछ अर्थों में अवनति। मनुष्य के हृदय की संवेदनशीलता और उसकी कोमल भावनायें नष्ट हो रही हैं। सांसारिक व्यवहार कुशलता के साथ उसमें नीरसता बढ रही है और काव्य में उसकी रुचि कम हो रही है। इसका मुख्य कारण यही है कि आज जीवन में काव्य–बुद्धि और गणित–बुद्धि का सामंजस्य टूट गया है। सभ्यता का ऐसा विकास काव्य के लिये घातक ही सिद्ध हो रहा है। यदि यही क्रम चलता रहा तो एक दिन काव्य सृष्टि का अंत हो जायेगा और वह निःसंदेह मनुष्य के लिये बहुत बडा दुर्भाग्य सिद्ध होगा। गणित की चाहे कितनी भी उपयोगिता क्यों न हो, वह हृदय में काव्य का परिपूरक नहीं हो सकता। गणित व्यक्ति को बाह्य व्यवहार में चतुर बनाता है, लाभ और हानि के भेद के प्रति सजग करता है। गणित के कोष में एक और एक मिलकर सदैव दो होते हैं, परन्तु काव्य और हृदय के जगत में एक और एक मिलकर एक ही होता है। जहां पारस्परिक मानव संबंध लेन देन पर आधारित हैं वहां स्नेह का सौदा होता है अर्थात् वहां हिसाब किताब होता है। परंतु क्या गणित–बुद्धि उस रस की अनुभूति कर सकती है जो दो विभिन्न इकाईयों को मिलाकर एक कर देती है। प्रेम की यह दिव्य अनुभूति द्वैत की भावना को बिल्कुल नष्ट कर देती है तब लेन देन का हिसाब ही समाप्त हो जाता है। गणित और प्रेम के

मार्ग ही भिन्न भिन्न हैं। गणित का लक्ष्य है लाभ और उपयोगिता किन्तु प्रेम का ध्येय है शुद्ध आनन्द। हृदय की कोमलता मस्तिष्क के नितान्त व्यवहारिक दृष्टिकोण को नहीं समझ सकती और उपयोगितावादी दृष्टिकोण अन्तर की मधुर झंकार को सुनने में असमर्थ है। प्रेमानुभूति के उस आयाम को खोकर मनुष्य कभी भी आनन्द उपलब्ध नहीं कर सकता। काव्यहीन हृदय प्रेमानुभूति से शून्य ही रहता है, इसलिये आज जीवन में कोई संगीत नहीं रहा, मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ गया है। गैर अनुपातों में उलझा हुआ वह पीड़ा पा रहा है और अंतर्द्वन्द, चिन्ता एवं संताप से वह अत्यन्त दुखी हो रहा है। इतनी अशांति मनुष्य चित्त ने शायद ही कभी अनुभव की होगी। इसीलिये आत्महत्याओं का क्रम बढ़ रहा है। पिछले दो महायुद्ध भी इसी सामूहिक आत्मघात की प्रवृत्ति के परिणाम थे। जब जीवन आनन्दरहित हो जाता है तो वह नीरस हो जाता है और जीवित रहने का उत्साह ही नष्ट हो जाता है। अर्थहीन जीवन के बोझ को उठाने में जब मनुष्य असमर्थ हो जाता है तो वह मृत्यु की शरण में जाता है। अतीतकाल में युद्ध की प्रेरणा दूसरे को मारने की प्रवृत्ति से मिलती थी किन्तु अब स्थिति बदल गई है। तीसरे और अन्तिम युद्ध की जो विराट तैयारी चल रही है वह अपने ही विनाश की प्रवृत्ति का परिणाम है। इस विनाश में हम इतने संलग्न हैं कि इसके विरोध में हमें कोई आवाज सुनाई ही नहीं देती। इन कुरुप परिस्थितियों का मूल कारण है ज्ञान की अव्यवस्था और अराजकता। मानव जीवन को अर्थ और अभिप्राय देनेवाला स्रोत ज्ञान ही है। अतएव ज्ञान की समस्त स्थिति पर पुर्नविचार और पुर्ननिर्धारण होना चाहिये। पहली आवश्यकता तो यह है कि ज्ञान की समस्त शाखायें अंतर्संबंधित होनी चाहिये। उनकी निष्ठायें स्वयं के ही प्रति नहीं अपितु सब दिशाओं से उपलब्ध केन्द्रीय ज्ञान की ओर होनी चाहिये। खोज की समस्त दिशाओं में एक लयबद्धता होनी चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो जो दशायें बहुत विकसित हो चुकी हैं उनका शोधकार्य कुछ समय के लिये स्थगित कर देना चाहिये और अविकसित अंगों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इससे ज्ञान की केन्द्रीय निष्पत्ति संभव हो सकेगी। विकास तो सदा सर्वांगीण और समानुपाती होना चाहिये।

समस्त ज्ञान और विज्ञान मनुष्य के लिये है न कि मनुष्य उनके लिये। अतः मनुष्य का सार्वलौकिक मंगल ही चरम ध्येय होना चाहिये। विज्ञान की निष्ठा का मानवता के कल्याण के प्रति दायित्व होना चाहिये। वैसी स्थिति में

ज्ञान यदि कम विकसित हो तब भी हितकर ही होगा। ज्ञान साधन से अधिक कुछ नहीं है। साध्य तो सर्वमंगल है, उस मंदिर की वेदी पर ही हमारे समस्त प्रयासों के आराध्य चढाये जाने चाहिये। यदि यह संभव हो सके तो इसी धरा पर स्वर्ग का राज्य लाया जा सकता है।

(३)

सत्यं शिवं सुन्दरम् :

अज्ञेय के प्रति मनुष्य की जिज्ञासा अनादि एवं अनन्त है। विश्व के नियन्ता के प्रति कौतूहल का जो भाव अविकसित मानव मन में था वही आज भी विकसित बुद्धि वाले सभ्य मनुष्य में भी है। जैसे जैसे मनुष्य विकास के सोपान पर चढता है, वैसे वैसे भगवान विषयक उसकी धारणा भी परिवर्तित होती है। अविकसित बुद्धिवाला मनुष्य जब प्रकृति की भयंकरता से अभिभूत होता है तो उस परम शक्ति के रौद्ररुप की कल्पना करता है, किन्तु जब उसके हृदय में सौन्दर्य की उद्भावना होती है तो वह अनुमान करता है कि इस विश्व का सृष्टा विशेष रुप और आकारवाला परमसुन्दर होगा, अतः उस अवैयक्तिक को यह वैयक्तिक मान लेता है। परन्तु बौद्धिक और आध्यात्मिक दिशाओं में अग्रशील मनीषियों का तो यही निष्कर्ष है कि सृष्टि की आधारभूत सत्ता एक ही है और उसका कोई रुप या आकार नहीं है।

विकसित मनुष्य के मन के तीन अंग माने जाते हैं : बुद्धि, अंतःकरण और हृदय। अर्थात् इन तीनों का जोड़ ही मन है : किन्तु व्यक्ति में प्रायः इन तीनों का संतुलन न होकर एक ही की प्रधानता होती है और उसी के आधार पर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। हर व्यक्तित्व का केन्द्र इनमें से कोई एक होता है। और उसी दृष्टिकोण से वह उस परमसत्ता की अनुभूति करता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण भी उसी कोण पर आधारित होता है, शेष दो का उपयोग वह उसी एक के समर्थन के लिये करता है। अतः वे दोनों उसके लिये गौण हो जाते हैं।

अब तक का समस्त चिन्तन, विचार और अनुभव इन तीन दृष्टियों में ही विभाजित रहे हैं। क्योंकि मनुष्य ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उस विराट को तीन विभिन्न कोणों से देखने का प्रयत्न किया है।

हृदय की अनुभूति को सर्वोपरि महत्व देने वाले हैं : कवि और कलाकार

जिनके जीवन का लक्ष्य है, सौन्दर्य की उपासना। वे इस सौन्दर्य उपासना द्वारा ही भगवान को प्राप्त करना चाहते हैं। रवीन्द्रनाथ जैसे महान कलाकारों के लिये तो सौन्दर्य ही भगवान है और उनका समस्त जीवन दर्शन इसी सौन्दर्यानुभूति पर आधारित है। उनके लिये तो "शिव" "और "सत्य" की उपयोगिता वहीं तक है जहां तक ये दोनों सौन्दर्य साधना में सहायक हो सकें। अन्यथा कितना ही बडा सत्य हो, कितना ही महत्वपूर्ण शिवत्व हो, यदि उसमें सौन्दर्य नहीं है तो वह उनके लिये सर्वथा त्याज्य है। उस परम सौन्दर्य की अनुभूति की पावनता को अपनी कला द्वारा अभिव्यक्त करना ही उनका उद्देश्य है।

बुद्धि के सहारे चलनेवाले हैं : ऋषि, दार्शनिक और वैज्ञानिक। सत्य और असत्य का अन्वेषण ही उनके जीवन का लक्ष्य है। वे अपनी तर्क निष्पत्ति द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सत्य ही भगवान है। बुद्ध, सुकरात, डार्विन, और फ्रायड सत्य के ही निपट खोजी थे। सुन्दर और शिवत्व को वे उसी सीमा सक महत्वपूर्ण मानते हैं जिस सीमा तक उनके द्वारा सत्य की पुष्टि हो सकती है। सत्य से विहीन सौन्दर्य व शिव का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है, वह उनके लिये निरर्थक है। उनके लिये तो समस्त सृष्टि सत्य और असत्य में ही विभाजित है।

अपने अन्तःकरण की आवाज को अत्यधिक महत्व देनेवाले हैं : साधुसंत और समाजसुधारक जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है जनकल्याण। शिवत्व के ये आराधक मनुष्य के उदात्तीकरण के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं। गांधीजी जैसे नैतिक पुरुषों के लिये शिवत्व ही भगवान है। कितना ही महत्वपूर्ण जीवन का सत्य क्यों न हो, यदि वह शिव का विरोधी है तो उनके लिये अग्राह्य है। "जो है" से उनका कोई सरोकार नहीं, "जो होना चाहिये", उसी में उनका विश्वास है। समस्त ललित कलाओं का मूल्यांकन वे इसी दृष्टि से करते हैं कि इनका प्रभाव मानव हृदय पर शुभ होगा या अशुभ। सुन्दरतम् कलाकृति द्वारा यदि लोकमंगल की संभावना नहीं है तो वह उनकी दृष्टि में अश्लील है, अतः त्याज्य है। ऐसे नैतिक व्यक्ति खजुराहो, कोणार्क और पुरी की मैथुन प्रतिमाओं को नष्ट कर देने के पक्षपाती हैं। उनका अप्रतिम सौन्दर्य न तो उन्हें दृष्टिगोचर होता है और न वे उसमें मानव हित के लिये कोई मंगल देखते हैं। उनकी शुभ की भावना इतनी कठोर है कि उनके लिये सौन्दर्य, मात्र सौन्दर्य होने के कारण वांछनीय नहीं हो सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विराट की खोज करने वाली इन तीनों दृष्टियों में विरोध है। इन तीनों क्षेत्रों

के अधिकारी अपने अपने आंशिक अनुभव को पूर्ण अनुभव सिद्ध करने में व्यस्त हैं।

यदि मनुष्य न हो तो जगत् की सत्ता तो होगी किन्तु उसमें न सत्य होगा न असत्य, न शिव होगा न अशिव, न सुन्दर होगा न असुन्दर, कुछ न होगा, केवल शुद्ध सत्ता होगी। मनुष्य की अनुपस्थिति के कारण सौन्दर्य, शिवत्व या सत्य की भाषा में उसकी व्याख्या नहीं हो सकेगी। जो है वह अव्याख्येय है, उसमें कोई व्याख्या नहीं है, व्याख्यायें तो उसके ऊपर हमारे आरोहण हैं। सत्ता में कोई व्याख्या नहीं, सभी व्याख्यायें मनुष्य के मन में है।

जिस भांति शुद्ध सत्ता अविभाज्य और अखंड है उसी भांति मनुष्य की शुद्ध चेतना भी अखंड और एक है। बुद्धि, अंतःकरण और हृदय, इन खंडों में स्वयं की चेतना को बांटने से ही विश्वसत्ता के भी खंडित दर्शन होते हैं। अखंड अनुभूति के लिये स्वयं की सत्ता का भी अखंड होना आवश्यक है। अखंड चेतना ही अखंड सत्य को जान और अनुभव कर सकती है। निश्चय ही अखंड चेतना में न तो बुद्धि होगी, न अंतःकरण और न हृदय। यद्यपि जो होगा उसमें ये तीनों समाविष्ट होंगे। वह अखंड चेतना इन खंडों के मात्र जोड़ से कहीं अधिक होगी, ठीक वैसे ही जैसे एक चित्र उसमें प्रयुक्त रंगों, चित्रपट और चित्रकार के श्रम के जोड़ मात्र से बहुत अधिक होता है। इसी भांति मनुष्य की चेतना भी उसके प्रगट रुपों के जोड़ से कहीं ज्यादा है। किसी एक खंड में तो वह समाप्त है ही नहीं, सभी ज्ञात खंडों के जोड़ पर भी उसकी समाप्ति नहीं है। खंड के माध्यम से जो जाना जाता है वह अधूरा तो होता ही है साथ ही साथ असत्य भी; क्योंकि वह न केवल स्वयं के सत्य होने की घोषणा करता है वरन् अन्य खंडों से ज्ञात तथ्यों के असत्य होने का दावा भी उसमें निहित होता है। प्रत्येक खंड की घोषणा है कि "यही सत्य है," "वह भी सत्य हो सकता है," इसका निषेध उसमें निहित है।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के साथ भी यही हुआ है। किसी भी दृष्टि बिन्दु से देखने पर, किसी भी कोण पर खड़े होकर देखने पर समग्र को कभी नहीं जाना जा सकता। दृष्टि की सीमा दृश्य को भी सीमित कर देती है। असीम को जानने के लिये समस्त दृष्टि बिन्दुओं को छोड़कर देखना आवश्यक है। घर के झरोंखों से भी आकाश देखा जा सकता है लेकिन आकाश की समग्रता को देखने के लिये तो सभी दीवारों का गिरा देना जरुरी है। बुद्धि, अंतःकरण और हृदय सभी की अपनी सीमायें हैं। बुद्धि विचार से ऊपर नहीं उठती, हृदय

भावों से घिरा है, अंतःकरण भी शुभ अशुभ के द्वंद्व से परिसीमित है। यदि इन तीनों के ऊपर उठा जा सके तो ही उसे जाना जा सकता है जो "है"। स्वयं की सीमाओं का यह अतिक्रमण संभव है, क्योंकि स्वयं की ही सत्ता के केन्द्र पर असीम का और अमित का आवास है। ऐसे अतिक्रमण को ही पातंजलि ने 'समाधि' कहा है। चेतना जहां सब सीमाओं को पार कर जाती है वहीं वह स्वयं में प्रतिष्ठित होती है और "जो है" उसके दर्शन में समर्थ होती है। ऐसी अनुभूति में ही सत्य, शिव और सुन्दर अपना विरोध खो देते हैं। विरोध तो उनमें था ही नहीं, वह तो था दृष्टि की सीमाओं में। दृष्टि की सीमायें गिरी तो वहीं असीम का प्रवेश हो जाता है। तब जो जाना जाता है वह न तो अकेला सत्य है, न अकेला शिव, न अकेला सुन्दर, वह तो तीनों है। "तीन" भी वस्तुतः हमारी भाषा का भेद है, वह तो एक ही है। जो एक है वह जब तक हमारा चित्त अनेक है तब तक अपरिचित रहता है। चित्त की एकता समाधि में फलित होती है। समाधि समग्र की अनुभूति का द्वार है। समाधि की उपलब्धि का मार्ग है : योग। योग का अर्थ है ही जोड़ना, स्वयं के चित्त खंडों को जो जोड़ देता है वही योग है। इसलिये न तो कवियों ने, नैतिक पुरुषों ने और न दार्शनिकों ने ही जिस सत्य को जान पाया है वही सत्य योग से अखंड हुये चित्त के समक्ष अपने सब रहस्यों का उद्घाटन कर देता है।

समाचार विभाग

तुलसीश्याम–साधनाशिबिर

सौराष्ट्र के 'सोरठ शिक्षण अने संस्कृति संघ' तथा' तुलसी श्याम विकास समिति' के संयुक्त प्रयत्नो से, आचार्य श्री रजनीशजी के आध्यात्मिक प्रवचनों और ध्यान के कार्यक्रमों के हेतु ता. ४,५,६ फरवरी १९६६ को तुलसीश्याम में एक साधना शिबिर का आयोजन किया गया था। असाम्प्रदायिक, क्रांतिकारी विचारों, तत्वों के गूढ़ परामर्श, विषय को विशद और तर्कपूर्ण ढ़ंग से रखना, रोचक शैली, और सुन्दर तथा मधुर अस्खलित वाक् प्रवाह के कारण आचार्य श्री. रजनीशजी के प्रवचन जहाँ–जहाँ हुए हैं वहाँ–वहाँ वे लोकप्रिय बने हैं।

आचार्य श्री रजनीशजी के प्रवचनों का लाभ भिन्न–भिन्न प्रदेश के लोगों को भी मिले इसलिए कुछ समय से इनके प्रवचनों का कार्यक्रम अथवा ध्यान के प्रयोगों के साथ प्रवचनों के लिए शिबिर के कार्यक्रम भिन्न–भिन्न स्थानों पर आयोजित किये जाते हैं। शिबिर के लिए प्रकृति का कोई एकांत तथा रमणीय स्थल के चुनाव के लिए आचार्य श्री रजनीशजी का आग्रह रहता है क्योंकि रोजाना के जीवन के झंझठो से तथा व्यग्रता से व्यक्ति मुक्त हो, तो ही वह अध्यात्म जैसे विषय को ग्रहण करने का अधिकारी बन सकता है। क्योंकि शिबिर में व्याख्यान के अंत में ध्यान की शिक्षा का भी कार्यक्रम होता है। जिसके लिए निसर्ग की शांति और रमणीयता उस सम्बन्ध में प्रेरक बनती है। इससे ऐसी शिबिरों का अनुभव भी विशिष्ठ प्रकार का, आह्लादक और चिरस्मरणीय बना रहता है और विचारशील व्यक्तियों को तो वही से चित्त का पाथेय भी मिलता है।

इस समय शिबिर का कार्यक्रम सौराष्ट्र में तुलसीश्याम में आयोजित किया गया था। शिबिर की व्यवस्था 'तुलसीश्याम विकास समिति, और 'सोरठ शिक्षण अने संस्कृति संघ' द्वारा की गई थी और उसके संयोजन की मुख्य जिम्मेदारी श्री रतुमाई अदाणी और उसके साथी कार्यकर्ताओं ने ली थी। शिबिर में आनेवाले व्यक्तियों के लिए हवाई जहाज, ट्रेन, बस आदि की अलग अलग व्यवस्था की गई थी।

सौराष्ट्र के गिर के जंगलों में छोटी छोटी तीन सुन्दर पहाड़ियों के बीच, शांत चासी नदी के किनारे स्थित तीर्थ धाम तुलसीश्याम, भारत का एक प्राचीन तीर्थ है। भारतभर में से श्रद्धालु व्यक्ति वहाँ यात्रा के लिए आते हैं। प्रकृति सौंदर्य की दृष्टि से हमको राणकपुर का स्मरण हो जाता है ऐसा यह रमणीय स्थल है। मंदिरों के गुंबद पास पास में होने से ऐसा विदित होता है कि जैसे वे उसके रक्षक हों। पहाड़ों की घाटी में प्रकृति की शोभा है। उना परगना में स्थित यह स्थान यात्रियों में और आसपास के इलाके में "श्यामजी का धाम" के नाम से जाना जाता है। तुलसीश्याम का मंदिर प्राचीन है। इसकी प्रतिमा हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है। "दंतकथा के अनुसार" यह दो सौ वर्ष पहले सरसिया गांव में रहनेवाले एक दूधवाले महाराज को स्वप्न में इस मूर्ति के दर्शन हुए थे और इसी के अनुसार यह मूर्ति पृथ्वी में से खोदकर निकाली गयी थी और उसकी प्रतिष्ठा करवायी गयी थी। प्रतिमा कुछ खंडित-सी दिखती है। मंदिर सामान्यतया हिन्दु मंदिर हैं और पुराने ढंग के बने हुए हैं। इनकी पैड़ियों की रचना इस प्रकार की है कि दूर खड़ा हुआ यात्री भी आसानी से इनके दर्शन कर सकता है। मंदिर के पास ही काल मेघ का छोटा सा मंदिर है। उसके पास ही तप्तोदक कुंड है। गरम पानी के कुंडमें आनेवाले यात्री स्नान करते हैं। अब तो कुंन्ड के बाहर गरम पानी का नल लगा दिया गया है। कुंड के पास एक छोटी-सी पहाड़ी है, जिसके ऊपर हाल बिहार धाम की बहुत सी इमारतें बन गयी है। मंदिर के सामने वाली पहाड़ी पर रुक्मिणी देवी की जीर्णप्राय कुटी है। तीनो पहाड़ियो में यह ऊंची है और वहाँ से गिर के जंगल की झाड़ियों और आसपास आये हुए पहाड़ों के लगभग २५ मील तक फैले हुए विस्तार का मनोहारी दृष्य है। नीचे श्यामजी के मंदिर के पास ही अन्नक्षेत्र-भोजन शाला है, जहाँ पर यात्रियों को मंदिर की तरफ से मुक्त भोजन दिया जाता है। मंदिर की व्यवस्था महंत गुरू श्री रामप्रसाददासजी संभालते हैं। मंदिर के पास में ही दीव की धर्मशाला है। पहाड़ों के बीच से एक रस्ता उना की तरफ जाता है। तथा दूसरा रस्ता धारी की तरफ जाता है। उना, पचपचिया,

धारी, अमरेली, सावरकुंडला, जूनागढ आदि स्थानों से तुलसीश्याम रोजाना कितनी ही बसें आती हैं। एक यात्रा के धाम के उपरान्त इसकी आबोहवा वातावरण तथा पानी के गरम कुंड को ध्यान में रखकर एक बिहारधाम (Holiday-camp) की तरह इसका विकास करने का प्रयत्न किया जा रहा है। "तुलसी-श्याम विकास समिति" की तरफ से, इस स्थान के विकास के लिए ठीक ठीक प्रयत्न चल रहे है।

तीन तारीख के सायंकाल तक लगभग सभी शिबिरार्थी आ गये थे। बम्बई और अहमदाबाद की अपेक्षा सौराष्ट्र में से बडी संख्या में व्यक्ति आये थे। जिनमें कितने ही कार्यकर्ता थे। रविशंकर दादा और कवि श्री. दुला काग भी इस शिबिर में उपस्थित थे।

तारीख तीन की रात को भोजनोपरान्त, नौ बजे शिबिर का उद्घाटन हुआ था। पू. रविशंकर महाराज, कविश्री दुलाकाग, श्री. दुर्लभजी खेताणी, श्री रतुमाई अदाणी आदि ने प्रासंगिक भाषण किये। तथा शिबिर के विषय में कितने ही मार्गदर्शन दिये। आचार्य श्री रजनीशजी ने शिबिर की योजना का हेतु दर्शाया तथा दूसरे दिन से प्रारम्भ होनेवाले अपने व्याख्यानों की आध्यात्मिक विचार भूमिका के विषय में बताया। वस्तुतः उनका यह वक्तव्य भी एक व्याख्यान जैसा बन गया था।

दूसरे दिन सुबह ९ बजे आचार्य श्री रजनीशजी के व्याख्यानों का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। खुले स्थान में बांधे गये मण्डप के आसपास का वातावरण वृक्षों के कारण प्रसन्न, शांत, शीतल तथा प्रेरक हो गया था। लगभग ४५० श्रोतावर्ग की उपस्थिति, ऐसे गंभीर विषय को ग्रहण करने के लिए, पूर्ण शांत थी। तथा अपने विषय को विशद, तर्क संगत, भली भांति तथा उदाहरणों सहित बड़े ही रोचक ढ़ंग से आचार्य श्री की शैली के लिए तथा उनकी भव्य मुखमुद्रा तथा कर्ण-प्रिय वाणी प्रवाह के लिए श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुनते रहते। सुबह ९ से १० बजे तक शाम को चार से पांच बजे तक और रात को ९ से १० तक इस तरह तीन दिन तक आचार्य श्री ने दिये हुए व्याख्यानों और प्रश्नों के उत्तरों तथा उन्होंने हरेक के अंत में १० मिनिट तक कराये गये ध्यान के प्रयोग का विवरण यहाँ देना संभव नहीं है। परन्तु तीनो दिन उनके व्याख्यानो का मुख्य वक्तव्य क्या था उसके नमूने रूप उदाहरणो के साथ देखेंगे।

आचार्य श्री रजनीशजी के व्याख्यानो का मुख्य विषय सत्य की खोज अर्थात क्यों और किस प्रकार हो सकती है ? यह था। उन्होंने कहा था कि प्रत्येक

व्यक्ति जीवन में कुछ न कुछ जुटाने के लिए शोधने के लिये प्रयत्न करता है। ऐसे प्रयत्न करता हुआ मनुष्य अपने आप ही सत्य की खोज करता है ऐसा कई बार माना जाता है, परन्तु वास्तव में वह सत्य की खोज नहीं, पर सुख की या सन्तुष्टि की खोज करता रहता है। मनुष्य को स्वयं को भी यह पता नहीं होता कि वह किसकी खोज कर रहा है? इससे बहुतों की खोज अधूरी ही रह जाती है। परन्तु सत्य की खोज करनेवाले को स्पष्टरूप से यह समझना जरुरी है कि वह अपने आप सत्य की खोज किस प्रकार कर सकता है। सत्य की खोज कोई सहज बात नहीं है। इसके लिए तो आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य को अपने प्राणार्पण करने को भी तैयार रहना चाहिए।

सत्य को समझने के लिए जीवन क्या है और जीवन का अर्थ क्या है? यह जानता आवश्यक है। जीवन का अर्थ जाने बिना जो जीव है वह निरर्थक ही जीता है अथवा वह जीता ही नहीं ऐसा कहा जाता है। हम जिसे जीवन कहते हैं वह वास्तव में कितने ही मनुष्यों के लिए तो जीवन नहीं है। जीवन यह क्रमशः मृत्यु की ही स्थिति है। कदापि मृत्यु के समय यह विचार आयें कि हम जो जीवन जिये वह वास्तव में जीवन नहीं था। ईशु ख्रिस्त ने एक मच्छीमार से कहा था "कहाँ तक मछली मारता रहेगा, जीवन में कुछ और करना है या नहीं? जीवन व्यर्थ बीता जा रहा है?" मच्छीमार को सत्य के दर्शन हो गये और वह ईशुख्रिस्ती के साथ चल पड़ा। उसी समय गांव के किसी व्यक्ति ने मच्छीमार को कहा "तू, जा रहा है परन्तु तेरे पिता की मृत्यु हो गयी है। इसकी अंतिम क्रिया करने के बाद जाना!" ईशु ने मच्छीमार को कहा "तुमको, वहाँ जाने की आवश्यकता नही है। गांव के दूसरे मुर्दे उस मुर्दे की व्यवस्था कर देंगे"। इस प्रकार, जो व्यक्ति जीवन का अर्थ नहीं जानता वह मुर्दे समान होता है। इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने भी एक बार एक वृद्ध से उसकी उम्र पूछी। वृद्ध ने कहा– "चार वर्ष," किसी ने कहा अरे तू सत्तर वर्ष का हो गया फिर चार वर्ष का क्यों कहता है? वृद्ध ने कहा "जो जीवन निरर्थक चला गया उसकी गिनती क्यों करना? जब से जीवन क्या है यह समझा तभी से उसकी गिनती करनी चाहिए"। वैसे, जीवन क्या है यह जहाँ तक व्यक्ति नहीं जानता वहाँ तक सत्य की सच्ची शोध वह नहीं कर सकता।

जीवन और मृत्यु के विषय में समझाते हुए आचार्य रजनीशजी ने कहा कि "जो जीवन को जानता है वह मृत्यु के भय से मुक्त रहता है। जिसको हम जीवन समझते हैं वह वास्तव में मृत्यु की ही गति होती है। जन्म इसका

प्रथम चरण है। और मृत्यु इसका अंतिम चरण है। आत्मा अमर है ऐसा सब कहते हैं। परन्तु ऐसा मानना और जानना इसमें बहुत बडा फर्क है। मानने से कुछ होता नहीं। ज्ञान का मूल्य ही सच्चा है। आत्मा को अमर कहनेवाले भी कई बार मृत्यु से डरते है।

मृत्यु का भय क्यों है? देह नष्ट हो जाने की शंका ही भय है। देह के ऊपर अपना स्वामीत्व का भाव ही देह नष्ट होने की शंका के भय को पैदा करता है। जिसको सत्य की खोज करनी है उसे भय से मुक्त होना ही चाहिए। शारीरिक ताकत से सत्ता या भय का निवारण नहीं होता। वस्तुतः दूसरों पर अपनी ताकत दिखानेवाले व्यक्ति अन्दर से बेचैन होते हैं। जो व्यक्ति भयभीत होता है वही कई बार बहुत हिंसक और आततायी होता है। चंगेजखान के विषय में कहा जाता है कि वह बड़ा क्रूर और आततायी था। उसने बहुत व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा, परन्तु भय के कारण वह रात को सो नहीं सकता था। अपने आसपास रात दिन पहरेदारों को रखने के बाद भी वह बहुत ज्यादा भयभीत रहता था और भय के कारण ही एक रातको वह भागा और मौत का शिकार हुआ।

भय से मुक्ति का उपाय यह है कि भय के प्रति सतत जागृत रहना चाहिए। भय को जाननें और समझनें की कोशिश करनी चाहिए। जो व्यक्ति भयमुक्त होता है वह ही दूसरों को प्रेम दे सकता है। जिसके पास अभय नहीं है वह दूसरों को प्रेम नहीं पर घृणा ही दे सकता है।

जीवन और मृत्यु में बहुत अन्तर नहीं है। जीवन साधना बने तो मृत्यु मोक्ष बन जाती है। परन्तु जीवन और मोक्ष में तो अनंत अंतर है। मैं शरीर हूँ ऐसा भ्रम जहाँ है वहाँ मृत्यु है और मैं आत्मा हूँ ऐसा जहाँ साक्षात्कार है वहाँ मोक्ष है। परन्तु ऐसा साक्षात्कार आसान नहीं है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति पागल की तरह अपने सुखों की सन्तुष्टि के लिए भाग दौड़ कर रहे हैं। दौड़ते दौंड़ते उसे जो भी मिले वह उसको ले लेना है वह ही उसको देखना है, सुनना है। कदाचित यह खड़ा रहता है तोभी उसका मन भागता रहता है। ऐसी जल्दीबाजी या अधीरता से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती उल्टे जितनी जल्दी बाजी रहेगी उससे काम कठिन ही बनेगा। जो व्यक्ति समता रखकर, धीमी गति से विश्वासपूर्वक चलता है वह अपने ध्येय पर पहूँच जाता है। "व्यक्ति की दृष्टि में कितना भेद होता है" इस संबंध में उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि "एक गुरू और शिष्य एक गांव के बाहर झोंपडी में रहते थे। वे बाहर गये हुए थे तो

तूफान में उनकी झोंपड़ी टूट गयी। गुरू और शिष्य जब वापिस लौटे तब टूटी हुई झोंपडी देखकर शिष्य ने कहा. "अरे, भगवान तूने यह क्या किया? जो लोग अधर्म करते हैं और जिनके पास संपत्ति है उनको तो तुमने ठीक रखा, परन्तु हमारी एक झोंपड़ी तोड़ डाली?" तब गुरू बोला– "हे भगवान, तू कितना दयालु है? आधी झोंपड़ी तो तूने बचाली, इसमें बैठकर ही अब तेरा भजन अच्छी प्रकार से होगा कारण कि अब टूटे हुए भाग में से आकाश के तारों और चन्द्रमा के सौन्दर्य में तुम्हारा दर्शन हो सकेगा"।

सत्य के विषय में बोलते हुए आचार्य श्री ने कहा कि "हमें बिल्कुल शांत रहकर चित्त में दूसरी कोई धारणा या कल्पना के बिना सत्य के पास पहुँचना होता है। मनुष्य जिसकी खोज करता है वह बाहर नहीं है पर उसी के भीतर है इस वस्तु की खोज करनी नहीं होती। तुमन कभी इसे खोया नहीं है और कभी खोना भी नहीं है। कारण कि यदि यह है तो तुम्हारा अस्तित्व है। यह ऐंसी चीज है जो कभी नहीं खो सकती।"

"सत्य एक है और इसकी अनुभूति भी एक ही है। इसलिए जो इसको जानना चाहते है उन्हें इसके विषय की अनेक धारणाओं और कल्पनाओं को छोड़ देना पड़ेगा।

सत्य दर्शन की साधना वस्तुतः स्वप्नमुक्ति की साधना है। हम जब अपनें ख्वाबों में से मुक्त होते हैं तभी सत्य का दर्शन होता है। जहाँ तक हम अपनें स्वप्नों में रहते हैं वहाँ तक सत्य के उपस्थित रहते हुए भी वह अनुपस्थित जैसा ही रहता है। वस्तुतः हम ही अपनी तरफ से अनुपस्थित रहत हैं। इसके लिए, सत्य की कोई कल्पना नहीं करनी होती। परन्तु चित्त में जब कोई कल्पना नहीं होती तब चित्त सत्य में होता है। सत्य की खोज में अज्ञात जितना हानिकर होता है उतना ही पांडित्य या मिथ्याज्ञान भी हानिकर होता है। पांडित्य, शास्त्रज्ञान न जानते हुए भी, मैं जानता हूँ, ऐंसी चित्त की दशा, यह सब सत्यानुभव में बाधक होते हैं। अतः इसलिए सत्य की खोज करनेवालों को इन सब में से मुक्त होने की प्रथम आवश्यकता है।"

आचार्य श्री ने सत्य की खोज विषय पर दिये हुए व्याख्यानों और प्रश्नोत्तरी में गुरू की आवश्यकता, मूर्तिपूजा, बालकों को दिया गया धार्मिक शिक्षण, भक्ति, ज्ञान, और कर्म आदि भिन्न भिन्न विषयों पर अपनें मौलिक विचार बताये गये थे।

व्याख्यान के अन्त में ध्यान की शिक्षा भी दी गयी थी। ध्यान के विषय में समझाते हुए उन्होंनें कहा था कि "ध्यान" शब्द से यदि कोई माने कि यह एक

प्रकार की क्रिया है। यह कोई क्रिया नहीं है। इसलिए 'मैं ध्यान धरता हूँ' या ध्यान करता हूँ ऐसा कहना गलत है। 'मैं' ध्यान में हूँ ऐसा कहना सच्चा है। जिस तरह 'मैं प्रेम करता हूँ' यह कहना गलत है। "मैं प्रेम में" हूँ ऐसा कहना सच्चा है। इसी प्रकार ध्यान यह भी चित्त की एक अवस्था है। जब इस अवस्था का अनुभव होता है तब वहाँ 'सच्चाई का' नहीं "पर होनें का" भाव होता है। यह एक प्रकार को विचार शून्यता की दशा है जहाँ सत्य दर्शन की स्थिति आरम्भ होती है और जहाँ आत्मा साक्षीभाव से संसार को देखती है।

अंतिम दिन रात को आभारविधि का कार्यक्रम रखा था। जिसमें संयोजकों और शिबिरार्थियों की ओर से प्रासंगिक व्याख्यान हुए थें।

('प्रबुद्ध जीवन' में गुजरातीम प्रसिद्ध हुए डॉ. रमणलाल ची. शाह के लेख पर से हिन्दी में अनुवादित।)

आचार्य श्री रजनीशजी के पूना में व्याख्यान

जैन मित्र मण्डल द्वारा आयोजित पूना में महावीर जयन्ती के निमित्त से, आचार्य श्री रजनीशजी के व्याख्यान रविवार ता. ३।४।६६ को शिवाजीनगर पूना में, संघवी टिफिन केरियर फैक्टरी के विशाल प्रांगण में रात को ८ बजे, तथा ता. ४।४।६६ को सुबह ८–३० बजे डेक्कन जीमखाना, हिन्द विजय सिनेमा गृह में आयोजित किये गये थे। दोनो ही स्थानों पर श्रोतागण बड़ी संख्यामें उपस्थित थे। बम्बई से भी अच्छी संख्या में जिज्ञासु सज्जन पूना आये थे।

आचार्य श्री रजनीशजी के बम्बई में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए, सुन्दर कार्यक्रम

आचार्य श्री रजनीशजी यदाकदा बम्बई में आते ही रहते हैं और उनके व्याख्यानों से बम्बई की जनता को लाभ होता ही रहता है। परन्तु फिर भी बार बार उन्हें सुनने की इच्छा जनता को रहती है। अतः उनकी अमृतवाणी का लाभ बम्बई की जनता को मिले इस हेतु से जीवन जाग्रति केन्द्र द्वारा, गत १४ से १७ अैप्रिल तक बम्बई में उनका कार्यक्रम रखा गया था।

उनके (आचार्य रजनीशजी के) सुबह-शाम पांच व्याख्यान चौपाटी स्थित बिरला क्रीडा केन्द्र के रम्य और शांत वातावरण में रखे गये थे। होल के पूरा पार जोत के उपरान्त श्रोतागण होल के बाहर तथा अन्दर की खाली जगह बैठ जाते थे और बड़ी ही शांति से उन्हें सुनते थे।

एक ही विषय को, तीन भागों में विभक्त कर, दो दिन, एक शामको और एक सुबह को रखा गया था। दो दिन सुबह में उन्होने प्रश्नों का उत्तर दिया था। उनकी अमृतवाणी से श्रोताओं को अत्यन्त सन्तोष हुआ।

आचार्य श्री रजनीशजी से प्रथम परिचय भारत जैन महामंडल बम्बई शाखा द्वारा आयोजित पर्युषण व्याख्यानमाला में, तथा इसके बाद महावीर जयन्ती के अवसर पर हुआ था। प्रारम्भ में उनके व्याख्यानों का लाभ सिर्फ जैनी ही लेते थे। परन्तु धीरे धीरे अन्य धर्म अनुयायिओं का भी ऊसे सम्पर्क बढ़ता गया। बिरला क्रीडा केन्द्र में हुए उनके व्याख्यानो में गुजरातियों, राजस्थानियों के अलावा, पंजाबी महाराष्ट्री, सिंधि, उत्तरभारती, पारसी, तथा मुसलमानों की भी उपस्थिति रहती थी। पूना आदि स्थानों से भी खास-खास–व्यक्ति उनके व्याख्यानों को सुनने के लिए अच्छी संख्या में बम्बई आये थे।

ता. १६ शनिवार की रात को घाटकोपर स्थित स्थानकवासी उपाश्रय के मैदान में उनका एक व्याख्यान आयोजित किया गया था। उसमें घाटकोपर के अलावा बम्बई और दूसरे स्थानों से बड़ी संख्या में आए व्यक्तियों ने उपस्थित रहकर, उनके व्याख्यान का लाभ लिया था। एक विशाल जनसमुदाय होने के बावजूद भी बड़े ही शांतिपूर्ण वातावरण में कार्यक्रम पूरा हुआ तथा सभी को पूरा सन्तोष हुआ।

उदयपुर साधना शिविर

"मानव विकास केवल विज्ञान पर नहीं, आत्मज्ञान पर भी निर्भर है। आत्मज्ञान मनुष्य में छिपे हुए अनंत विराट का विज्ञान है जिसके साक्षात्कार से मनुष्य में आत्मचिंतन और आत्मनिर्णय के प्रति नयी चेतना जागृत होती है।" इस अनुभूति की भूमिका प्राप्त करने की दृष्टि से उदयपुर में दिनांक १४,१५, १६, १७ मई १९६६ को आचार्य श्री रजनीशजी के सानिध्य में एक साधना शिबिर का आयोजन, श्री हीरालालजी कोठारी द्वारा किया गया था।

शिबिर-स्थल उदयपुर के उत्तर में प्राकृतिक सौंदर्य की रमणीय छटा से युक्त फतहसागर फील के निकट टीचर्स ट्रेनिंग कालेज विद्याभवन को चुना गया था। कालेज श्री गोविन्दराम सेकसरिया की सहायता से चल रहा है। नजदीक में ही सभी प्रकार की व्यवस्थावाली हास्टेल है, जिसमें शिबिरार्थियों को ठहराया गया था। इस शिबिर में लगभग १०० व्यक्तियों ने भाग लिया था जिसमें राजस्थान के अलावा बम्बई और सौराष्ट्र के भाई बहन भी उपस्थित थे।

राजस्थान में यह तीसरी शिबिर थी। और उन सबका आयोजन श्री हीरालालजी कोठारी की देखरेख में ही हुआ। उनके साथी कार्यकर्ताओंने बड़े ही उत्साह पूर्वक सेवा करके शिबिर को सफल बनाया।

रोज सुबह में आचार्य श्री के प्रवचन तथा ध्यान के प्रयोग, दोपहर को प्रश्नोत्तर, और रात को फिर से प्रश्नोत्तर तथा ध्यान के प्रयोग होते थे। दोपहर को व्यक्तिगत मुलाकात का कार्यक्रम भी था। शिबिरार्थियों को बड़ा ही आनंद एवं सन्तोष प्राप्त हुआ।

आबोहवा बड़ी ही सुन्दर थी। शिबिर का स्तर हर प्रकार से ऊंचा ही था। शिबिरार्थियों का सहयोग तथा कार्यकर्त्ताओं की सेवा बहुत ही अच्छी देखी गयी।

अन्त में कालेज के प्रिंसीपल साहब ने आभार प्रदर्शन किया।

जीवन जागृति केन्द्र बम्बई द्वारा प्रकाशित

आचार्य श्री रजनीश–साहित्य

१	साधनापथ	हिन्दी	मूल्य रु.	२।–
२	"	गुजराती	" "	२।–
३	"	मराठी	" "	३।–
४	क्रान्तिबीज	हिन्दी	" "	२।–
५	"	गुजराती	" "	२।–
६	सिंहनाद	हिन्दी	" "	१।२५
७	"	गुजराती	" "	१।–
८	अहिंसादर्शन	गुजराती	" "	००।३५–
९	पाथ आव सेल्फ रियेलायजेशन		"	२।२५

नोटः–पक्का पुठ्ठा प्रति (Special copy) के लिए सिर्फ ५० पै. ज्यादा देना होगा। तथा पुस्तक मँगानेवाले महानुभावों को ही पोस्टेज वहन करना होगा।

नम्र–प्रार्थना

संस्था को आपसे सहायता की अपेक्षा है। आप निम्न प्रकार से सहायता शुल्क भिजवा सकते हैं ::–

रु. १००१–०० भिजवाकर संरक्षक

" ५०१–०० भिजवाकर उपसंरक्षक

" २५१–०० भिजवाकर आजीवन सभ्य

" २५–०० भिजवाकर वार्षिक सभ्य

उपरोक्त प्रकार से सहायता भिजवाने वाले व्यक्ति को संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकें एवं त्रैमासिक निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

भवदीय,

मन्त्री

जीवन जागृति केंद्र

५०५, कालबादेवी रोड,

बम्बई–२

ज्योति-शिखा

मैं मनुष्य के आरपार देखता हूँ, तो क्या पाता हूँ? पाता हूं कि मनुष्य भी एक मिट्टी का दिया है। लेकिन वह मिट्टी का दिया मात्र ही नहीं है। उसमें वह ज्योति-शिखा भी है जो कि निरन्तर सूर्य की ओर ऊपर उठती रहती है। मिट्टी उसकी देह है। उसकी आत्मा तो यह ज्योति ही है। किन्तु जो इस सतत उर्ध्वगामी ज्योति-शिखा को विस्मृत कर देते है, वे सब मिट्टी ही रह जातें है। उनके जीवन में उर्ध्वगमन बन्द हो जाता है, और जहां उर्ध्व-गमन नहीं हैं, वहां जीवन ही नहीं है। मित्र, स्वयं के भीतर देखो-चित्त के सारे धुएं को दूर कर दो और उसे देखो जो कि चेतना की लौ है। स्वयं में जो मर्त्य है, उसके ऊपर दृष्टि को उठाओ और उसे पहचानो जो कि अमृत है। उसकी पहचान से मूल्यवान कुछ भी नहीं है, क्योंकि वही पहचान स्वयं के भीतर पशु की मृत्यु और-परमात्मा का जन्म बनती है।

क्या बाहर के दिये जलाने से अभी तृप्ति नहीं हुई है? उनमें ही उलझे रहे तो भीतर का दिया कब जलाओगे? जीवन अल्प है और समय प्रतिक्षण भागा जाता है। उठो और जागो, अन्यथा समय बीत जाने पर बहुत पछताना होता है।

"जीवन उसका है, जो जाग जाता है और ज्योति बन जाता है।

--आचार्य रजनीश